संस्कृति

यूनेस्को द्वारा वर्ष 2021 में दुर्गा पूजा को सांस्कृतिक धरोहर का दर्जा दिया गया है।

अंक : 23
अर्द्धवार्षिक पत्रिका

सत्यमेव जयते
भारत सरकार
संस्कृति मंत्रालय

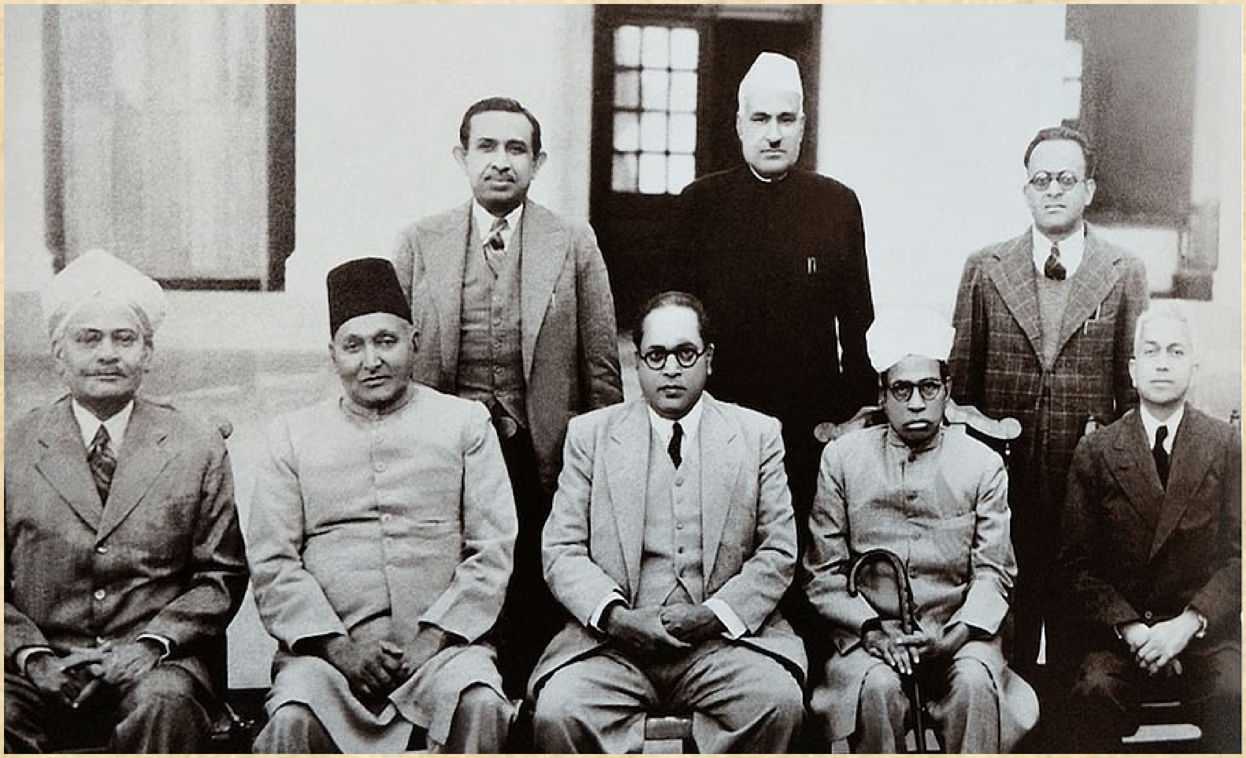

भारतीय संविधान प्रारूप समिति के अध्यक्ष एवं सदस्यगण

भारतीय संविधान की प्रारूप समिति के अध्यक्ष व सदस्यगण (बैठी मुद्रा में बाएं से) एन. माधवराव, सैयद मुहम्मद सादुल्ला, डॉ. बी. आर. अम्बेडकर (अध्यक्ष), अल्लादि कृष्ण स्वामी अय्यर, सर बेनेगल नरसिंह राव (खड़ी मुद्रा में बाएं से) एस. एन. मुखर्जी, जुगल किशोर खन्ना और केवल कृष्णन (29 अगस्त, 1947)

सांस्कृतिक विचारों की प्रतिनिधि
अर्द्धवार्षिक पत्रिका

संस्कृति

सितम्बर, 2022 अंक-23

आज़ादी का अमृत महोत्सव

संरक्षक :
गोविंद मोहन, सचिव

मुख्य परामर्शदाता :
संजुक्ता मुदगल, संयुक्त सचिव

सम्पादक :
डॉ. रामचन्दर रमेश आर्य, निदेशक

उप सम्पादक :
शिशिर शर्मा, उप निदेशक

सह सम्पादक :
संजीव नयन साहा, सहायक निदेशक

संपादन सहयोग :
राजभाषा प्रभाग के समस्त पदधारी

विशेष संपादन सहयोग :
नरेश अरोड़ा
इकबाल अहमद

मुख्य आवरण : दुर्गा पूजा का चित्र

अंतिम आवरण : दुर्गा मंदिर, ऐहोले, कर्नाटक

संपादकीय पता :
डॉ. रामचन्दर रमेश आर्य, निदेशक (राजभाषा)
केन्द्रीय सचिवालय ग्रंथागार, भू-तल,
शास्त्री भवन, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद रोड,
नई दिल्ली-110001
☎ 91 011-23383032
ई-मेल : dirol-culture@nic.in
hindicsl@gmail.com

(यह पत्रिका मंत्रालय की वेबसाइट : www.indiaculture.nic.in पर उपलब्ध है)

सत्यमेव जयते

भारत सरकार

संस्कृति मंत्रालय

शास्त्री भवन, नई दिल्ली-110001

संस्कृति पत्रिका में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार और तथ्य लेखकों के हैं, उनसे मंत्रालय या सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है और न ही वे उसके लिए जिम्मेदार हैं।

जी. किशन रेड्डी
संस्कृति, पर्यटन एवं
उत्तर पूर्वी क्षेत्र विकास मंत्री
भारत सरकार

G. Kishan Reddy
Minister of Culture, Tourism and
Development of North Eastern Region
Government of India

सत्यमेव जयते

आज़ादी का अमृत महोत्सव

संदेश

भारतवर्ष एक ऐसा देश है जहाँ के प्रत्येक राज्य की अपनी एक अलग संस्कृति और जीवन-शैली है। भिन्न-भिन्न धर्मों, आस्थाओं में विश्वास रखने वाले, अलग-अलग भाषाएं बोलने वाले तथा अपनी-अपनी संस्कृति और सामाजिक पृष्ठभूमि से जुड़े लोग प्रेम और सद्भावपूर्वक अपना जीवनयापन करते हैं। समय के साथ-साथ बहुत सी चीजों में बदलाव आया है, लेकिन एक ऐसी चीज जो अभी भी अक्षुण्ण बनी हुई है, वह है हमारे देश की समृद्ध और अद्भुत संस्कृति। एक ऐसी संस्कृति जिसका स्वरूप सामासिक है जिसमें हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, बौद्ध, जैन व अन्य सम्प्रदायों की संस्कृतियों का एक सुन्दर संगम परिलक्षित होता है। अलग-अलग मत-मतांतरों से संबंध रखते हुए भी यहाँ के लोग एक-दूसरे के साथ मानवता और भाई-चारे का नाता रखते हैं और परस्पर मेलजोल का भाव रखते हुए एक-दूसरे के सुख-दुःख में साझीदार बनते हैं। इसी संस्कृति के फलस्वरूप हमारा देश एकता व अखंडता के सूत्र में बंधा हुआ है। इसी प्रकार के विभिन्न पक्षों को दर्शाती 'संस्कृति' ई-पत्रिका के प्रकाशन का कार्य क्रमिक रूप से आगे बढ़ रहा है। पत्रिका के इस नए अंक के सफल प्रकाशन के लिए मेरी ओर से सम्पूर्ण संपादक मंडल को शुभकामनाएँ।

(जी. किशन रेड्डी)

अर्जुन राम मेघवाल, आई.ए.एस. (रिटायर्ड)
Arjun Ram Meghwal, IAS (Retd.)

संसदीय कार्य और संस्कृति राज्य मंत्री
भारत सरकार, नई दिल्ली-110001
MINISTER OF STATE FOR
PARLIAMENTARY AFFAIRS AND CULTURE
GOVERNMENT OF INDIA,
NEW DELHI-110001

सत्यमेव जयते

आज़ादी का अमृत महोत्सव

संदेश

प्रत्येक देश की अपनी एक विशेष संस्कृति होती है और इसी सांस्कृतिक विशिष्टता के अनुरूप ही उस देश के निवासियों के आचार-विचारों, नैतिक मूल्य, पारस्परिक सरोकार परिलक्षित होते हैं। हमारा देश एक अति प्राचीन और बहुमुखी संस्कृति वाला देश है जिसमें वे सभी विशेषताएँ उपलब्ध हैं जो किसी समाज और देश की सफलता के लिए आवश्यक होती हैं। भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलने वाले, अलग-अलग धर्मों और आस्थाओं का अनुसरण करने वाले समाज के लोगों का आपस में प्रेमपूर्वक रहना, एक दूसरे के साथ परस्पर सहयोग करना तथा विभिन्न मत-मतांतरों के होते हुए भी अपने देश भारत से प्यार करना ही इस देश की सबसे बड़ी सांस्कृतिक विरासत है। इन्हीं पहलुओं को उजागर करती ई-पत्रिका 'संस्कृति' के 23वें अंक के सफल प्रकाशन के लिए मेरी ओर से हार्दिक बधाई।

(अर्जुन राम मेघवाल)

मीनाक्षी लेखी
MEENAKSHI LEKHI

सत्यमेव जयते

आज़ादी का अमृत महोत्सव

विदेश एवं संस्कृति राज्य मंत्री
भारत सरकार,
नई दिल्ली-110001
MINISTER OF STATE FOR
External Affairs & Culture
Government of India, New Delhi-110001

संदेश

भारतीय संस्कृति की गणना विश्व की उत्कृष्ट और प्राचीनतम संस्कृतियों में की जाती है जिसका अपना एक समृद्ध इतिहास रहा है। विगत हजारों वर्षों में कई संस्कृतियों का प्रादुर्भाव हुआ और समय के चक्र के साथ वे विलुप्त भी हो गईं, लेकिन आजकल की आधुनिकता भरी दौड़ और प्रतिस्पर्धा होने पर भी भारतीय संस्कृति अपने मूल स्वरूप में विद्यमान है। अनेकता में एकता, सहनशीलता, एक दूसरे की भावनाओं व आस्थाओं का सम्मान करना तथा अपने देश एवं समाज के प्रति कर्तव्यनिष्ठा की भावना रखना आदि हमारी समृद्ध संस्कृति की मुख्य विशेषताएँ हैं जो इस देश के लोगों को एकता के सूत्र में बाँधे रखती हैं। इन्हीं पहलुओं को ध्यान में रखकर हिंदी ई-पत्रिका 'संस्कृति' का 23वाँ अंक प्रकाशित होने जा रहा है, इसके लिए मैं सम्पूर्ण सम्पादक मंडल को अपनी शुभकामनाएं देती हूँ।

(मीनाक्षी लेखी)

गोविंद मोहन
सचिव
Govind Mohan
Secretary

भारत सरकार
संस्कृति मंत्रालय
नई दिल्ली-110001
GOVERNMENT OF INDIA
MINISTRY OF CULTURE
NEW DELHI-110001

सत्यमेव जयते

आज़ादी का अमृत महोत्सव

संदेश

किसी भी देश की खुशहाली उसकी संस्कृति पर आधारित होती है। जिस देश की सांस्कृतिक विचारधारा जितनी समृद्ध और वैभवशाली होती है उतना ही वह देश अधिक विकसित और सशक्त माना जाता है। इस दृष्टि से अगर देखा जाए तो भारतीय संस्कृति अतुलनीय और मानवीय मूल्यों पर आधारित है। भारत में अनेक तरह की स्थानीय संस्कृतियाँ, अनेक भाषाएँ, अनेक धर्म-संप्रदाय, मत-मतांतर प्रचलित हैं और उन सबकी अपनी अपनी विविधताएँ हैं, लेकिन इन सभी विविधताओं के होते हुए भी भारत एक सुसंगठित और सशक्त देश माना जाता है। इसका श्रेय हमारी 'सामासिक' संस्कृति को दिया जा सकता है और इसी कारण से इसे 'अनेकता में एकता' की संस्कृति भी कहा जाता है। इसमें न केवल जीवन को सही ढंग से जीने की कला का परिचय मिलता है, बल्कि मानव-जीवन का वास्तविक उद्देश्य क्या है, इसका भी सम्यक रूप से संकेत हमें प्राप्त होता है। इन्हीं सब बातों पर आधारित 'संस्कृति' पत्रिका का 23वाँ अंक प्रकाशित होने पर मुझे हार्दिक प्रसन्न्ता है। पत्रिका के सफल प्रकाशन के लिए मेरी ओर से पूरे सम्पादक मंडल को मंगल कामनाएँ।

(गोविंद मोहन)

संजुक्ता मुदगल
संयुक्त सचिव
SANJUKTA MUDGAL
Joint Secretary

भारत सरकार
संस्कृति मंत्रालय
नई दिल्ली-110001
GOVERNMENT OF INDIA
MINISTRY OF CULTURE
NEW DELHI-110001

संदेश

इस मंत्रालय की अर्धवार्षिकी ई-पत्रिका 'संस्कृति' का 23वां अंक प्रकाशित होने जा रहा है, इस बात की मुझे बहुत खुशी है। भारतीय संस्कृति का स्वरूप 'सामासिक' है जिसमें इस देश की विविधतायुक्त सभी तरह की धार्मिक आस्थाएं व सामाजिक मान्यताएं समाहित हैं। 'वसुधैव कुटुंबकम' भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र है, अर्थात् अलग अलग धर्मों, पूजा पद्धतियों, भाषाओं, सामाजिक मूल्यों का अनुसरण करते हुए भी हम सब भारतवासी हैं और एक परिवार की तरह मिल जुलकर रहते हैं। इसीलिए 'विविधता में एकता' इस देश की विशिष्ट पहचान है। समाज में परस्पर भाईचारा रखना, सामाजिक मूल्यों के प्रति सौहार्द की भावना रखना, सभी को जीवन में आगे बढ़ने और बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित करना तथा हृदय में देशभक्ति की भावना रखना जैसी कई ऐसी विशिष्टताएं हैं जो कि हमारी भारतीय संस्कृति को समृद्ध बनाती हैं।

इसी तरह की मानवीय संवेदनाओं और अन्य पहलुओं को प्रदर्शित करती इस ई-पत्रिका के सफल प्रकाशन हेतु मैं अपनी शुभकामनाएं देती हूँ।

संजुक्ता मुदगल

(संजुक्ता मुदगल)

संपादकीय

संस्कृति मानवीय संस्कारों और जीवन मूल्यों का ही एक स्वरूप है। संस्कारों के माध्यम से ही किसी देश व समाज के लोगों के जीवन-स्तर का मूल्यांकन किया जा सकता है जो देश सांस्कृतिक दृष्टि से जितना सबल और सशक्त होता है उतना ही वह देश अधिक समृद्ध और वैभवशाली माना जाता है। प्रत्येक देश की अपनी एक सांस्कृतिक पहचान और विशिष्टता ही उसे अपने को दूसरे देश से अलग रूप में प्रस्तुत करती है। सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, सामाजिक परिवेश, रहन-सहन, भाषा और खान-पान की दृष्टि से सभी देशों व समाजों की अपनी अपनी प्राथमिकताएँ हो सकती हैं परन्तु मानवीय संवेदनाओं के धरातल पर सभी देश व समाज एक समान दिखाई पड़ते हैं। ये संवेदनाएं और संस्कार जोकि संस्कृति के ही अंग हैं देश व समाज को एक नई दिशा प्रदान करते हैं। संस्कृति ही मानव को मानव से, समाज को समाज से तथा अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सभी देशों को आपस में जोड़ने और उनके बीच परस्पर सकारात्मक सोच को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। संस्कृति पत्रिका के पिछले दो अंकों को पाठकों द्वारा काफी सराहा गया है और उनकी बहुमूल्य एवं सकारात्मक प्रतिक्रियाएं भी हमें प्राप्त हो रही हैं। पत्रिका के पिछले अंकों की तरह इस तेइसवें अंक में भी पाठकों की रूचि के अनुसार सारगर्भित व सूचनाप्रद आलेखों को शामिल किया गया है। आशा है पत्रिका का यह अंक भी हमारे विद्वान पाठकों की अपेक्षाओं पर खरा उतरेगा। पत्रिका के इस अंक के बारे में पाठकगण कृपया अपने बहुमूल्य विचारों से हमें अवश्य अवगत कराते रहें ताकि पत्रिका में तदानुसार आवश्यक सुधार करते हुए इसे और भी ज्ञानवर्धक और सर्वोपयोगी बनाया जा सके।

(डॉ. आर. रमेश आर्य)

विषय-क्रम

		पृष्ठ संख्या
1.	सांस्कृतिक चेतना के वाहक स्वामी विवेकानन्द **रवीन्द्र नाथ झा**	01
2.	महात्मा गांधी-मातृभाषा और हिंदी **डी.पी.मिश्रा**	08
3.	गौतम बुद्ध का गृहनगर कपिलवस्तु **डॉ. शमऊन अहमद**	18
4.	बंजारा : पलाश के फूलों की तरह खिलने वाली मायड भाषा **एकनाथ पवार नायक**	25
5.	भारतीय त्योहारों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि **सीताराम गुप्ता**	31
6.	भारतीय संस्कृति की धरोहर : यौगिक जीवन शैली **समीर उपाध्याय 'ललित'**	35
7.	भारतीय संस्कृति : कतिपय विशेषताएँ **डॉ. डॉली जैन**	41
8.	मलमल : हवा से बुना वस्त्र **डॉ. प्रार्थना सिंह**	48
9.	मानव जीवन की अमूल्य अभिव्यक्ति : संस्कृति **डॉ. कुलभूषण शर्मा**	55
10.	वैश्वीकरण और हिंदी की दशा **संजय कुमार**	61
11.	सांस्कृतिक धरोहर का पुंज : केरल **सैजू. के.**	69

पृष्ठ संख्या

12. इंटरनेट पर सजती हैं संस्कृति की चौपाल 78
डॉ. एम.एल. गुप्ता 'आदित्य'

13. बरगीत : असम के एक राग पर आधारित मार्ग संगीत 86
दिवाकर दास

14. मधुबनी चित्रकला : मिथिला की एक प्राचीन लोक कला 91
सोमा घोष

15. प्रकृति और अध्यात्म का संगम है पुदुचेरी 98
डॉ. विनोद बब्बर

16. जगद्गुरु आदि शंकराचार्य और चार मठ 105
डॉ. राजकिशोर सक्सेना

17. सूरीनाम में भारतीयता की सांस्कृतिक जड़ें 111
डॉ. अकरम हुसैन

सांस्कृतिक चेतना के वाहक स्वामी विवेकानन्द

रवीन्द्र नाथ झा
हिंदी ट्रांसलेटर
राजा राममोहन राय लाइब्रेरी फाउंडेशन, कोलकाता

भारत की पावन भूमि सनातन काल से ही ऋषि-मुनियों, साधु-संतों एवं महात्माओं की पवित्र भूमि रही है। यहाँ की धरा पर अनेकानेक ऐसे संतों तथा मनीषियों का आविर्भाव समय समय पर हुआ है जिन्होंने अपने प्रखर व्यक्तित्व एवं आध्यात्मिक वाणी से धर्म, आध्यात्म एवं भक्ति की भावधारा को गति प्रदान कर सामाजिक समरसता को कायम किया तथा तप, त्याग, समर्पण, सदाचार एवं मानव सेवा जैसी उदात्त भावना को जन जन के बीच बिखेरकर भारतीय संस्कृति के संवर्धन एवं संरक्षण में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इतिहास साक्षी है कि इन संतों एवं मनीषियों ने ही अपने विशद ज्ञान, उच्च आदर्श, धार्मिक चिन्तन तथा आध्यात्मिक क्रिया-कलापों के जरिए उच्च कोटि के सद्गुणों एवं नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठापना समाज में करके जनमानस को मानवोचित आचरण करने की प्रेरणा दी है जिसका प्रतिफलन है कि संपूर्ण वसुधा को अपना कुटुम्ब समझने वाले उदार चरित्र के भारत के लोग अपनी लोक मंगलकारी भावना एवं उच्च कोटि के संस्कारों के कारण प्राचीनकाल से ही सम्पूर्ण विश्व में समान रूप से आदर के पात्र रहे हैं।

अट्ठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में आहत मानवता को अपनी दिव्य वाणी से नवजीवन दिलाने में अग्रणी भूमिका निभाने वाले महापुरुष स्वामी विवेकानन्द का जन्म 12 जनवरी, सन् 1863 को कोलकाता में हुआ था। जनश्रुति के अनुसार इनकी माता भुवनेश्वरी देवी ने वाराणसी यात्रा के दौरान भगवान विश्वेश्वर से पुत्र की कामना की थी और उनकी कामना पूरी हुई थी। इनके बचपन का नाम नरेन्द्र था। बाल्यकाल से ही नरेन्द्र कुशाग्र बुद्धि के एक जिज्ञासु बालक थे। उनकी माता भुवनेश्वरी देवी धार्मिक प्रवृत्ति की महिला थी जिन्होंने धार्मिक आख्यानों तथा रामायण और महाभारत के आदर्श चरित्रों की चर्चा बालक नरेन्द्र के सम्मुख समय समय पर करके उनमें संस्कार भरती थी। यही वजह थी कि अपने अन्त:करण में वाचिक शिक्षा ग्रहण कर नरेन्द्र धर्म और आध्यात्म की ओर उन्मुख हुए और उच्चादर्शों से परिपूरित भारत की वैभवशाली परम्परा के प्रति सजग, सम्मानशील व विनीत रहे।

एक संभ्रांत परिवार से संबंध रखने वाले पेशे से वकील इनके पिता विश्वनाथ दत्त के हृदय में पाश्चात्य सभ्यता के प्रति रुझान एवं भौतिक वैभव के प्रति महत्वाकांक्षा का भाव

निहित था। इसी कारण प्रतिभा संपन्न बालक नरेन्द्र को सम्यक पुस्तकीय ज्ञान मुहैया करवाने के लिए उन्होंने उनको विद्यालय में दाखिल करवाया। अंग्रेजी शिक्षा के पक्षधर इनके पिता ने बालक नरेन्द्र के व्यक्तित्व को समृद्ध करने हेतु कई रूपों में शिक्षा का अवसर उपलब्ध करवाया और बालक नरेन्द्र ने अपने बहुमुखी रचनात्मक विकास के लिए विविध रूपी शिक्षा को समर्पित होकर ग्रहण किया। उन्होंने जनरल असेम्बलीज इन्स्टीट्यूशन से विद्यालयी परीक्षा उत्तीर्ण की एवं तत्पश्चात् स्नातक की उपाधि भी प्राप्त की।

आध्यात्मिक विचार व्यक्त करते हुए स्वामी विवेकानन्द

सन 1884 में अपने पिता विश्वनाथ दत्त की अकाल मृत्यु से मर्माहत होकर इन्होंने आर्थिक तंगी को झेला और अस्तित्व के लिए संघर्ष किया। उन गर्दिश के दिनों में नरेन्द्रनाथ को ग्रन्थों में वर्णित दार्शनिक आदर्श और जगत् के यथार्थ के गहरे भेद को समझने का अवसर प्राप्त हुआ था। जग की प्रतिकूल परिस्थितियों के आघात ने उनमें वैराग्य की भावना को उजागर किया जिसके फलस्वरूप वे भौतिकवादी संसार से मुक्त होने की कामना करने लगे। अतः, धर्म की सत्यता और उसके बहुरूप को जानने की प्रबल इच्छा से अभिभूत होकर वे कई धर्माचार्यों के निकट भी गए परन्तु सन्तोषप्रद उत्तर उन्हें कहीं नहीं प्राप्त हुआ। उक्त प्रयोजन हेतु उन्होंने ब्रह्म समाज का भी आश्रय लिया, मगर उनकी जिज्ञासा का समाधान उन्हें नहीं मिला।

कालान्तर में दक्षिणेश्वर के काली माँ के मन्दिर के समर्पित पुजारी रामकृष्ण परमहंस के सान्निध्य में जाने के उपरान्त उनमें नयी ऊर्जा का संचार हुआ और वे स्वयं के भीतर उस शक्ति का अनुभव करने लगे जिस प्रयोजन के निमित्त इस संसार में उनका अवतरण हुआ था। सन् 1881 में रामकृष्ण देव को अपना आदर्श गुरु स्वीकार कर वे उनसे धर्म, दर्शन एवं आध्यात्म विषयक शिक्षा ग्रहण करने लगे। गुरु के परामर्श पर उन्होंने वेद, उपनिषद् एवं गीता जैसे कालजयी ग्रन्थों का अध्ययन प्रारम्भ किया और योग-साधना में लीन रहने लगे। सांसारिक प्रतिकूल परिस्थितियों को देखकर उन्हें एहसास हुआ कि अज्ञानता रूपी तमस में डूबे मानव की संकीर्ण धारणा एवं धर्म विषयक उन्माद लम्बे अरसे तक इस धरती पर विद्यमान रहा जिसके परिणामस्वरूप अनाचार तथा अत्याचार पनपता

रहा जिसने मानव समुदाय को हताश कर डाला। अतएव, अंग्रेजी शिक्षा में पले-बढ़े नरेन्द्रनाथ के लिए इस हताशा को तोड़ने तथा मानव जाति में प्रेम एवं सद्भाव रूपी नयी चेतना का संचार करना पुनीत कर्त्तव्य बनकर उपस्थित हुआ। अपनी इसी कर्त्तव्यपरायणता की भावना से अभिभूत होकर वे गुरु परमहंस जी से अक्सर धर्म एवं ईश्वर विषयक प्रश्न पूछते थे और वे उन्हें अपना अभिमत देते हुए कहते- **'जतो मत, ततो पथ'** अर्थात् ईश्वर एक है, उसके पास पहुँचने के लिए अलग अलग मार्गों के नाम भिन्न भिन्न धर्म हैं।

जनश्रुति के अनुसार दक्षिणेश्वर के देवालय में काली माँ की अखण्ड साधना एवं भक्तिभाव में लीन रहने वाले समर्पित पुजारी रामकृष्ण परमहंस जी को माँ काली ने साक्षात् दर्शन दिया था। स्वामी रामकृष्ण परमहंस जी नरेन्द्रनाथ को ईश्वर की साधना एवं उनके प्रति भक्तिभाव के बारे में कहते थे कि माँ का रूप-दर्शन तभी संभव है जब उनके प्रति गहरी व्याकुलता, सच्चा अनुराग एवं समर्पण का भाव हो। अपने धर्म विषयक चिन्तन को स्पष्ट करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने भी कहा था कि संसार में जितने धर्म हैं, वे एक ही शाश्वत सनातन धर्म के अलग अलग रूप हैं, जो भिन्न भिन्न रीति से हमारे सम्मुख प्रकट होते हैं। अतएव, हमें सभी धर्मों का सम्मान करना चाहिए तथा उनके तत्वों में विश्वास करना चाहिए। सनातन धर्म अनन्त काल से विश्व का आधार रहा है और यह चिरकाल तक रहेगा।

साधना में लीन गुरु रामकृष्ण परमहंस

गुरु रामकृष्ण परमहंस जी का सन 1886 में निधन होने के बाद स्वामी विवेकानंद सांसारिक जीवन से विमुख हो गए और दृढ़ संकल्प की ज्योति को अपने हृदय में धारण कर भगवद् गीता पुस्तक एवं जल पात्र को लेकर उन्होंने बाराहनगर मठ से भारत माता के दर्शन के उद्देश्य से प्रस्थान किया। वेदान्ती युवा सन्यासी ने भारत दर्शन के दौरान हिमालय के बीहड़ प्रदेशों के चतुर्दिक हवन, प्रवचन एवं आध्यात्मिक क्रियाकलापों को अवलोकित करने के साथ साथ राजा-महाराजा के भव्य प्रासाद में भोग-विलास के प्रभुत्व को देखा। अन्न, वस्त्र के बिना ढोंग, पाखण्ड एवं अंधविश्वास जैसे सामाजिक कुसंस्कार से ग्रसित देश के बड़े समूह की चीखती-कराहती वेदना का अनुभव करके वे दु:खी हुए। धर्म की आड़ में पाखण्ड से युक्त घिनौने कार्यों को करते देखकर वे व्यथित भी हुए। आध्यात्मिक संस्कार की कसौटी पर उन्हें

पाखण्ड एवं विलासितापूर्ण जीवन तुच्छ लगने लगा। उनकी दृष्टि में स्वार्थ रहित परोपकार की भावना रखकर मानव सेवा करना हर मनुष्य का ध्येय होना चाहिए।

स्वामी विवेकानन्द ने भारत दर्शन का अन्तिम पड़ाव कन्याकुमारी (तमिलनाडु राज्य में स्थित) में रखा, जहाँ के शान्त समुद्र के बीचों-बीच एक शिला (चट्टान) पर उन्होंने दो दिन तक समाधि करके ध्यान किया और वेद-शास्त्रों के कटु सत्य को ध्यानमग्न अवस्था में अनुभव भी किया। उस शिला पर समाधिस्थ होने के क्रम में उनकी चेतना पर भारतवासियों के दिव्य रूप की अनुभूति प्रस्फुटित हुई जिससे उन्हें देश की वास्तविक स्थिति का ज्ञान हुआ। कन्याकुमारी में स्वामी जी की साधना स्थली (बंगाल की खाड़ी, अरब सागर एवं हिन्द महासागर के बीचों-बीच) पर स्वामी विवेकानन्द एवं उनके गुरु रामकृष्ण परमहंस व माँ शारदा के देवालय के रूप में चिह्नित एक स्थल **'विवेकानन्द रॉक'** के नाम से प्रसिद्ध है जहाँ देश-विदेश के असंख्य दर्शनार्थी भ्रमण कर आज भी गौरवान्वित महसूस करते हैं।

कन्याकुमारी में सागर के बीचों-बीच स्थित विवेकानन्द रॉक का विहंगम दृश्य

स्वामी विवेकानन्द ने धर्म, दर्शन, आध्यात्म एवं मानवतावादी चिंतन से युक्त अपने उदात्त विचारों से दुनिया का ध्यान आकृष्ट किया था। उन्होंने 11 सितम्बर, सन् 1893 को अमेरिका की लेक मिशिगन के तट पर बसे घनी आबादी वाले शहर **'शिकागो'** में **'विश्व धर्म ससंद'(पार्लियामेंट ऑफ रिलीजन्स)** के उद्घाटन सत्र में पहली बार सनातन हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में सम्बोधित किया। तीस वर्ष के गेरुआ वस्त्रधारी युवा भारतीय सन्यासी के कंठ से सम्बोधन की भाषा **'अमेरिका के भाइयों और बहनों'** का उच्चारण होते ही लगभग सात हज़ार श्रोताओं ने यकायक खड़े होकर स्वामी जी

का अभिनन्दन किया। स्वामी जी ने विश्व धर्म मंच को वेदान्त दर्शन और हिन्दू धर्म की उदारता की उद्घोषणा इस रूप में प्रस्तुत की कि सहस्त्रों धर्म पिपासु श्रोता उसका आस्वादन कर मुग्ध हो गए। उन्होंने कहा कि वे उस महान सनतन धर्म के अनुगामी हैं जिसने सहनशीलता, सहिष्णुता एवं सार्वभौमिकता का पाठ मानव समुदाय को पढ़ाया है। उन्हें इस बात का गर्व है कि वे ऐसी जाति से ताल्लुक रखते हैं जिसने संसार के समस्त पीड़ित एवं अवहेलित मतावलम्बियों को आश्रय देकर शरणागत के भाव को उजागर किया है। उनके सम्बोधन में सहभागिता एवं सर्वसमावेशी की भावना के साथ-साथ विश्व बंधुत्व एवं राष्ट्रवाद का भाव निहित था, जिसने दुनिया को अवगत कराया कि सभी धर्मों के सत्य को स्वीकार करना हम भारतवासियों का स्वभाव है। स्वामी विवेकानन्द जी की वाणी में देववाणी जैसा आकर्षण था जिसका आस्वादन करके धर्म संसद में उपस्थित लोगों को ऐसा लगा कि विश्व मानव समुदाय को धर्म का सच्चा मार्ग दिखाने के लिए मंच पर कोई देवदूत आकर खड़ा हुआ है। इस रूप में स्वामी विवेकानन्द ने सर्वधर्म महासभा में भारतीय सनातन संस्कृति के लोक कल्याणकारी ध्वज को विश्व के पटल पर फहराते हुए भारत की उज्ज्वल एवं गौरवशाली परम्परा तथा इसके विलक्षण सांस्कृतिक स्वरूप को उजागर किया, साथ ही हिन्दू धर्म के उदात्त स्वरूप का शंखनाद करके उसे अन्तरराष्ट्रीय मंच पर नई पहचान दिलायी।

स्वामी जी के सारगर्भित व्याख्यान को सुनकर भारतीयता के प्रति लोगों का रुझान हुआ और विदेश में उनके अनुयायियों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी। अगले दिन अमेरिका के प्रतिष्ठित समाचार पत्र 'न्यूयार्क हेराल्ड'ने स्वामी विवेकानन्द के पांडित्य का बखान करते हुए लिखा था कि उन्हें (स्वामी विवेकानन्द को) सुनकर लगता है कि भारत जैसे ज्ञानी राष्ट्र में ईसाई धर्म प्रचारक भेजना मूर्खतापूर्ण है। कालान्तर में स्वामी जी ने लॉस एंजिल्स, कैलिफोर्निया एवं ऑक्सफोर्ड जैसे कई स्थानों पर व्याख्यान देकर श्रोताओं को धर्म एवं कर्म के रहस्य से रूबरु कराया। उन्होंने कहा कि हमें साधनों की ओर उतना ही ध्यान देना आवश्यक है जितना साध्य की ओर। यदि हमारे साधन ठीक हैं तो साध्य की प्राप्ति अवश्य होगी।

स्वदेश लौटकर स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरु रामकृष्णदेव की आध्यात्मिक वाणी के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से तथा सनातन हिन्दू धर्म की सेवा के भाव से **'रामकृष्ण मिशन इन्स्टीट्यूट ऑफ कल्चर'** की स्थापना की जिसकी देश-विदेश में कई शाखाएं कार्यरत हैं। यह संस्थान विश्व की विभिन्न संस्कृतियों की विविधता को एकरूपता प्रदान करता है और धर्म-आध्यात्म के मार्ग पर अग्रसर होकर मानव सेवा करने की हमें निरन्तर प्रेरणा भी देता है।

स्वामी विवेकानन्द ने प्रेम और सहानुभूति को सच्ची उपासना के रूप में स्वीकार किया। उनके अनुसार समुचित शिक्षा एवं ज्ञान का उन्मेश हुए बिना समाज अथवा राष्ट्र का नव निर्माण संभव नहीं है। शिक्षा ही सर्वोपरि है और सभी बुराइयों का समाधान है। अतः, वे ऐसी शिक्षा व्यवस्था के पक्षधर थे जिससे चरित्र का निर्माण हो सकें, बुद्धि का विकास हो, मानसिक शक्ति बढ़े और देश के युवा उच्च विचार एवं निर्भीक भाव से अपने पैरों पर खड़े हो सकें। वे वैसी शिक्षा को उत्तम मानते थे जिससे मनुष्य विवेकशील और कर्मठ बनकर जीवन को उर्ध्वगामी बना सके। नारी शिक्षा के प्रबल पक्षधर स्वामी विवेकानन्द का मानना था कि नारियों को स्वच्छ वातावरण में उपयुक्त शिक्षा प्रदान करनी चाहिए ताकि वे ब्रह्मचर्य का पालन करके आदर्श चरित्र का निर्माण कर सकें और राष्ट्र के नव-निर्माण में अपनी भागीदारी दे सकें। उन्होंने इस क्रम में तप एवं त्याग की प्रतिमूर्ति एवं समर्पित नारी गार्गी, मैत्रेयी, दमयंती, सती-सावित्री एवं विदेह तनया सीता जैसी आदर्श नारियों के चरित्र को उजागर किया और कहा कि भारतीय नारी का चरित्र सती- सावित्री व सीता के सदृश होना चाहिए। वे अस्पृश्यता और जातिवाद को मानव समाज के लिए अभिशाप मानते थे तथा ऊँच-नीच के भेद-भाव को महत्व नहीं देते थे। उनके लिए कोई जीव छोटा या बड़ा नहीं होता क्योंकि सभी एक ही ईश्वर की संतान होते हैं।

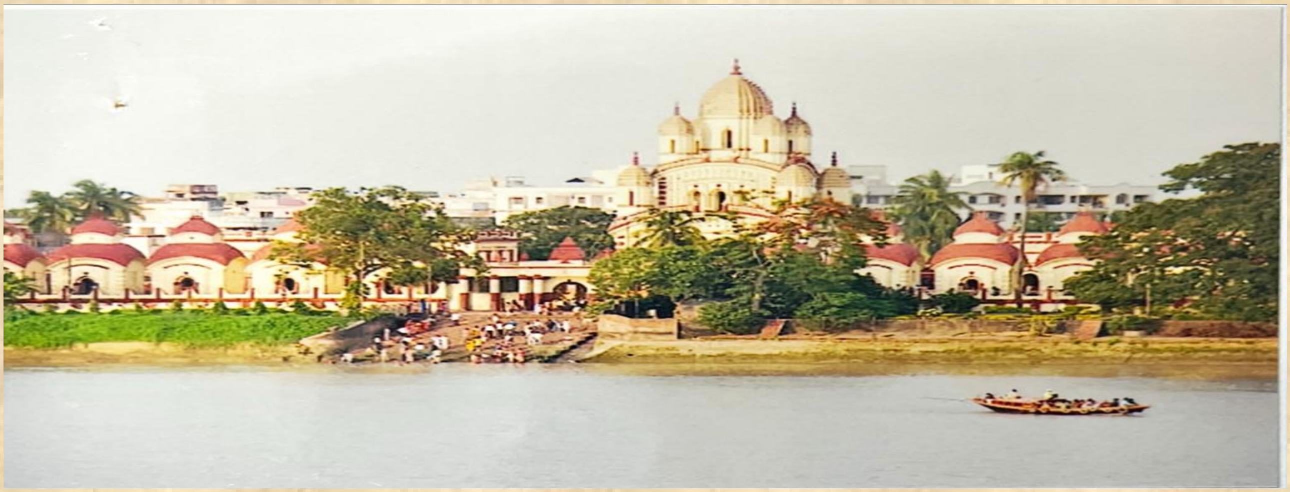

दक्षिणेश्वर स्थित काली माँ के मन्दिर का दृश्य

स्वामी विवेकानन्द की विचारधारा और उनके आदर्श भारतीय युवाओं के लिए प्रेरणादायक है। एक सच्चे कर्मनिष्ठ साधक की भाँति उन्होंने उपनिषद् के 'दर्शन' को देशवासियों के सम्मुख एक महत्वपूर्ण संदेश के रूप में व्यक्त करते हुए कहा था-**उत्तिष्ठत्त जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत** अर्थात् उठो, जागो और तब तक न रुको जब तक लक्ष्य न प्राप्त कर लो। स्वामी जी का उक्त कथन असंख्य युवाओं के मनोबल को ऊँचा करने की प्रेरणा देता है जिससे वे

अदम्य साहस से दृढ़ संकल्प की भावना को लेकर अपने सपने को साकार करने को तत्पर होते हैं। उन्होंने अपना पक्ष रखकर युवाओं में सृजन, चिन्तन एवं मानवतावादी दृष्टिकोण को लाने का प्रयास किया और नर सेवा को ही नारायण सेवा के रूप में स्वीकार करने को उन्होंने प्रेरित भी किया। यही वजह है कि स्वामी विवेकानन्द का जन्म दिवस 12 जनवरी को प्रतिवर्ष **'राष्ट्रीय युवा दिवस'** के रूप में देश भर में मनाया जाता है। इस पुण्य दिवस पर देश के असंख्य युवा स्वामी विवेकानन्द के सात्विक एवं कल्याणकारी विचारों पर अग्रसर होने का संकल्प लेते हैं।

स्वामी जी सत्य पर निर्भर रहे और सत्य को पाने के लिए सब कुछ त्याग करने को वे सदैव तत्पर रहते थे। वे विश्वास करने वालों के साथ विश्वासघात न करने की सलाह भी देते थे। दीन-हीन मानव के प्रति अपनत्व के भाव को जाग्रत कर उन्होंने उनके प्रति संवेदना व्यक्त की तथा वे नर के रूप में नारायण बनकर हमारे बीच प्रकट हुए। नि:स्वार्थ भाव से मानव हित के लिए सदैव कार्यरत रहना वे पुनीत कर्त्तव्य समझते थे और देशवासियों को भी ऐसा करने को सदैव प्रेरित करते थे ताकि समाज व राष्ट्र का नव निर्माण हो सके और लोग गौरव का अनुभव कर सकें।

सच तो यह है कि स्वामी विवेकानन्द ने अपने प्रखर व्यक्तित्व से प्रभावी भाषा में आध्यात्मिक विचारों एवं वेदान्त दर्शन के गूढ़ रहस्यों को जन जन तक पहुँचाया। उन्होंने सत्य के मार्ग को प्रशस्त किया, धर्म का मर्म समझाया और यह बताया कि जो कुछ भी स्वार्थ केंद्रित है वह नाशवान है। गुरु रामकृष्ण परमहंस के वचन को ब्रह्म वाक्य मानकर उन्होंने लोकधर्म का पालन कर मानव जाति के पुनरुत्थान, उद्धार एवं सेवा में स्वयं को समर्पित कर दिया। अपनी ज्ञान रूपी ज्योति से अनेकों बुझे दीपकों में नयी प्राण ऊर्जा का संचार उन्होंने किया।

एक सच्चे पथ-प्रदर्शक के रूप में वे पूज्य बनकर हमारे बीच जीवन्त हैं। उनकी मृत्यु 4 जुलाई, सन् 1902 को बेलूड़ मठ में हुई और वे महत प्रकाश में विलीन हो गए। स्वामी विवेकानन्द ने वस्तुतः ज्ञान, भक्ति, दर्शन तथा धर्म एवं आध्यात्म की भावधारा को विस्तृत करके देशवासियों में सांस्कृतिक चेतना को जगाया था और राष्ट्रीय पुनर्जागरण के जरिए नये भारत का स्वप्न देखा था। गुरु देव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने स्वामीजी के व्यापक दृष्टिकोण को रेखांकित करते हुए कहा था कि यदि भारत को जानना है तो स्वामी विवेकानन्द जी को जानिए। इस रूप में स्वामी विवेकानन्द की सोच तथा उनका जीवन-दर्शन हर मानव के कल्याण के लिए अनुकरणीय है और वर्तमान संदर्भ में प्रासंगिक भी है।

****

महात्मा गांधी-मातृभाषा और हिन्दी

डॉ. डी. पी. मिश्रा
सदस्य, हिंदी सलाहकार समिति, ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।
उपाध्यक्ष, विश्व हिंदी परिषद, नई दिल्ली।

महात्मा गांधी जी का नाम लेते ही मानस पटल पर एक ऐसे महानायक की छवि उभरती है जिसका हृदय अंत्योदय की समावेशी संकल्पना से आप्लावित था। स्वतंत्रता संग्राम के इस महानायक का अंतिम लक्ष्य राजनीतिक स्वतंत्रता न होकर भारत को एक राष्ट्र बनाना था। इसी संकल्पना को मन में लेकर महात्मा गांधी जी ने न केवल राजनीतिक आजादी के लिए लिए संघर्ष किया बल्कि आजीवन अनवरत रचनात्मक सामाजिक कार्यों के लिए संघर्षरत रहे। रहे। आजादी की लड़ाई में उनका सपना केवल राजनीतिक आजादी प्राप्त करने तक ही सीमित नहीं था बल्कि उनका सपना एक समावेशी समाज का निर्माण करना था। उनके सपने में समाज के अंतिम व्यक्ति का उदय उनका परम लक्ष्य था।

गांधी जी समाज, आचार, धर्म, भाषा, शिक्षा, साहित्य, अर्थनीति के सभी क्षेत्रों में व्याप्त विषमताओं एवं विसंगतियों को पहचान कर उनके उनके समाधान के लिए आजीवन संघर्षरत रहे। उनके रचनात्मक कार्यों का मतलब था जाति, धर्म, वर्ग, क्षेत्र तथा भाषा में बंटे पूरे भारत को एक सूत्र में बांधकर भारत का एक राष्ट्र के रूप में निर्माण करना। महात्मा गांधी जी राजनीति के कुशल चितेरे थे। उन्हें अंग्रेजों की विभाजक और विकृत मानसिकता का बहुत ही सटीक अंदाज अंदाज था। जहां एक ओर अंग्रेजी शासक भारत को जाति, धर्म, भाषा और क्षेत्र में बांटकर" फूट डालो और शासन करो" की नीति के तहत अपनी शासन सत्ता को बरकरार रखना चाहते थे, वहीं दूसरी ओर गांधी जी भारत को शोषणमुक्त और समरसतायुक्त समावेशी राष्ट्र बनाना चाहते थे। भारतीय सभ्यता और संस्कृति से जुड़ा शायद ही ऐसा कोई क्षेत्र या ऐसा कोई पक्ष हो जिस पर गांधी जी अपनी मौलिकता के साथ खड़े ना हुए हों। वह एक अति दूरदर्शी सूक्ष्मदृष्टि रखने वाले युग दृष्टा थे। अपनी इसी दूरदर्शी दृष्टि से वह राजनीतिक गुलामी की मुक्ति से पहले भाषा की गुलामी से मुक्ति को जरूरी मानते थे। गांधीजी समग्र व्यक्तित्व का विश्लेषण करने से यह सिद्ध होता है कि उनका जीवन आधुनिकता का दस्तावेज है ।वह भारत की आखिरी पंक्ति में खड़े व्यक्ति के विकास के पक्षधर थे। उनका जीवन दर्शन सर्वोदय के सिद्धांत पर आधारित था।

महात्मा गांधी जी बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी थे। राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रति उनके लगाव को समझने के लिए हमें मातृभाषा, संपर्क भाषा, राष्ट्रभाषा/राजभाषा के प्रति उनकी विचारधारा को

समझना होगा। गांधी जी मातृभाषा में शिक्षा देने के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने स्वतंत्रता से पूर्व प्रारंभिक शिक्षा में मातृभाषा को गंभीरता से अपनाने का आह्वान करते हुए कहा था कि "मातृभाषा मनुष्य के लिए उतनी ही स्वाभाविक है है जितनी छोटे बच्चों के लिए मां का दूध, और कुछ हो भी कैसे सकता है। बच्चा अपना पहला पाठ अपनी मां से ही सीखता है। इसलिए मैं बच्चों के मानसिक विकास के लिए उन पर मां की की भाषा को छोड़कर कोई दूसरी भाषा लादना मातृभूमि के प्रति पाप समझता हूं"। उन्होंने सन 1938 में "हरिजन सेवक" में अपनी एक अनुप्रेरक घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है "हां, अब मैं जरूर देखता हूं कि जितना गणित, गणित, रेखागणित, बीजगणित, रसायन शास्त्र और और ज्योतिष सीखने में मुझे 4 साल लगे, अगर अंग्रेजी के बजाय गुजराती में मैंने पढ़ा होता तो उतना मैंने आसानी से 1 साल में ही सीख लिया होता"।

आज हमारे वैयक्तिक उत्थान और उन्नति के लिए 9 जुलाई 1938 को "हरिजन सेवक" में प्रकाशित उनका यह उद्घोष "शिक्षा का माध्यम तो एकदम हर हाल में बदलना चाहिए और प्रांतीय भाषाओं को उनका वाजिब स्थान मिलना चाहिए" अत्यंत समीचीन है। उनका मानना था कि मातृभाषा सहज रूप से प्राप्त जीवन भर ज्ञानार्जन कराते रहने वाली शक्ति है। उनका सदैव विचार रहा है कि "शिक्षा मातृभाषा में में ही दी जानी चाहिए क्योंकि अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने से बालक को परिचित भाषा भाषा की दुरूहता के कारण विचारों की स्पष्टता नहीं होती। बालक मातृभाषा को जन्म से ही वातावरण से सीख लेता है और उस भाषा में अपने विचारों को स्पष्टता से व्यक्त कर सकता है"।

इसी वैचारिक श्रृंखला में गांधीजी ने "यंग इंडिया" में लिखा था "मेरा निश्चित मत है कि आज की अंग्रेजी शिक्षा ने शिक्षित भारतीयों को निर्बल और शक्तिहीन बना दिया है। इसने भारतीय विद्यार्थियों की शक्ति पर भारी बोझ है और हमें नकलची बना दिया है। कोई भी देश नकलचियों की जाति पैदा करके राष्ट्र नहीं बन सकता"। उनका यह स्पष्ट मानना था कि बच्चे का स्वाभाविक और नैसर्गिक विकास उसकी मातृभाषा के माध्यम से ही हो सकता है, न कि किसी विदेशी भाषा से। आगे उन्होंने लिखा है "हमारे बालक और बालिकाओं को यह सोचने को प्रोत्साहन देना कि अंग्रेजी के ज्ञान के बिना उत्तम उत्तम समाज में प्रवेश करना असंभव है, भारत के पुरुषत्व और खासतौर पर स्त्रीत्व के प्रति हिंसा करना है। यह विचार इतना आपत्तिजनक है कि सहन नहीं किया जा सकता"। उनका मानना था कि विदेशी भाषा के माध्यम से शिक्षा देना समय की बर्बादी है क्योंकि छात्रों का अधिकांश समय अंग्रेजी को सीखने में ही चला जाता है। इसी धारणा को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने "हिंद स्वराज" में लिखा है कि "लाखों को अंग्रेजी का ज्ञान देना उन्हें गुलाम बनाना है"। उनका स्पष्ट

मत था शिक्षा प्रत्येक दशा में मातृभाषा में दी जानी चाहिए। आजीवन उनका जोर इस बात पर रहा कि किसी भी हिंदुस्तानी को अपनी मातृभाषा नहीं भूलनी चाहिए और न यह महसूस करना चाहिए कि मातृभाषा में उच्च चिंतन नहीं हो सकता। वह मानव मस्तिष्क के स्वाभाविक विकास के लिए मातृभाषा में शिक्षा दिया जाना नितांत आवश्यक मानते थे।

गांधीजी ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन में उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिमी भागों में अपने भ्रमण के दौरान हिंदी की व्यापकता और उसकी व्यवहारिक शक्ति के बारे में बहुत और गहराई से अध्ययन तथा अनुशीलन किया था। इसी अनुभव के आधार पर उन्होंने कहा था कि "अपने अनुभव और दूसरों की सुनी बातों के बल पर मैं कन्याकुमारी से कश्मीर तक इस विश्वास के साथ यात्रा करने की हिम्मत कर सकता हूं कि मुझे ऐसे लोग मिल जाएंगे जो हिंदुस्तानी बोल और समझ लेते होंगे"। पूरे राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान महात्मा गांधी अपनी अधिकांश रेल यात्राएं तीसरे दर्जे के डिब्बे में करते थे जिससे उन्हें भारत के जन-सामान्य से संपर्क करने का सीधा अवसर मिलता था और इस संपर्क के माध्यम से उन्हें जन-सामान्य की भाषा को बहुत नजदीकी से जानने और अनुभव करने का अवसर मिला। इन्हीं अनुभवों के आधार पर उन्होंने कहा था कि" हिंदी बोलने वाला जहां भी जाता है हिंदी का प्रयोग करता है। कोई व्यक्ति इस पर आश्चर्य व्यक्त नहीं करता। हिंदी बोलने वाले हिंदू धर्म उपदेशक तथा उर्दू बोलने वाले मौलवी संपूर्ण भारत में धर्म और आचरण संबंधी अपने भाषण हिंदी या उर्दू में देते पाए गए हैं, औरों की बात तो दूर, यहां तक कि अशिक्षित समाज भी उन्हें समझ लेता है"। गांधी जी का यह अनुभवजन्य विचार आज भी उतना ही समीचीन है।

इन्हीं अनुभवों के आधार पर 1918 में ''इंदौर'' हिंदी साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए महात्मा गांधी जी ने घोषणा की थी "हिंदी देश की संपर्क भाषा होगी और उसी को राष्ट्रभाषा माना जाए"। उनकी मान्यता थी कि अपनी भाषा के बिना राष्ट्र गूंगा होता है और संपर्क भाषा के अभाव में किसी भी देश की राजनीतिक और सांस्कृतिक एकता न तो संभव है और न ही स्थाई हो सकती है। किसी भी राष्ट्र की संपर्क भाषा और राष्ट्रभाषा उस देश के सामाजिक ताने-बाने को बुनने और राष्ट्रीय एकता को अनंत समय

तक बनाए रखने के लिए एक विशिष्ट कड़ी होती है।

महात्मा गांधी जी का भारत के राजनीतिक क्षितिज पर पदार्पण एक ऐसे समय पर हुआ जब स्वतंत्रता आंदोलन अपने चरमोत्कर्ष पर था। वह स्वतंत्रता आंदोलन के पहले राजनेता थे जिन्होंने शिद्दत से महसूस किया कि भारत को अंग्रेजों के चंगुल से छुड़ाना है है तो जनभागीदारी के बिना यह कदापि संभव नहीं है, और इस आंदोलन के दौरान जनभागीदारी सुनिश्चित करने के लिए जनता की ही भाषा में जन-आंदोलन चलाना होगा। वह आजीवन स्वतंत्रता आंदोलन के समस्त कार्यक्रमों में न केवल स्वयं हिंदी में बोलते थे बल्कि अन्य सभी स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों को भी अपनी मातृभाषा या हिंदी में बोलने के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित करते थे। वह स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान अपने सभी साथियों एवं आंदोलनकारियों को यह समझाने में सफल रहे कि स्वतंत्रता आंदोलन की भाषा केवल और केवल हिंदी ही हो सकती है क्योंकि हिंदी उत्तर से दक्षिण और पूर्व से से पश्चिम सब जगह बोली और समझी जाती है तथा उसे सहजता से सीखा जा सकता है। इस प्रकार गांधीजी ने भाषा के प्रश्न को स्वराज के प्रश्न से जोड़कर हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का आंदोलन भी शुरू कर दिया और आजीवन वह इस बात पर जोर देते रहे कि हिंदुस्तान को सचमुच एक राष्ट्र बनाना है तो कोई माने या ना माने, राष्ट्रभाषा हिंदी ही हो सकती है।

महात्मा गांधी जनता की भावनाओं को समझने वाले कुशल चितेरे थे। उनका स्पष्ट मत था कि "अगर स्वराज अंग्रेजी बोलने वाले भारतीयों का और उन्हीं के लिए होने वाला हो तो तो निस्संदेह अंग्रेजी ही राष्ट्रभाषा होगी। लेकिन अगर स्वराज करोड़ों भूखे मरने वालों, करोड़ों निरक्षरों, दलितों और अन्त्यजों का है और उन सब के लिए होने वाला हो तो हिंदी ही एकमात्र राष्ट्रभाषा हो सकती है। हिंदी का निर्माण राष्ट्र योग्य ही हुआ है और यह बरसों पहले से ही राष्ट्रभाषा की भांति व्यवहित हो चुकी है"।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी

गांधीजी का मन-मस्तिष्क हिंदी को लेकर सदैव उद्वेलित रहता था। उन्होंने देशवासियों से अपील करते हुए कहा था कि "जैसे "जैसे अंग्रेज अपनी भाषा अंग्रेजी में बोलते हैं और सर्वदा उसे ही व्यवहार में लाते हैं, वैसे ही मैं आप सब से अपील करता हूं कि आप हिंदी को को भारत माता की एक भाषा बनाने का गौरव प्रदान करें। हिंदी सब समझते हैं। इसे राष्ट्रभाषा बनाकर हमें अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए"। उनके लिए हिंदी एक भाषा या मात्र संप्रेषण का साधन न होकर राष्ट्रीयता की प्रतीक थी। उनका मानना था कि सबसे बड़ी समाज सेवा सेवा यह है कि हम सब अपनी देशी-भाषाओं की तरफ मुड़ें और भारत की सभी भाषाओं का आदर करते हुए हिंदी को राष्ट्रभाषा के पद पर करें। वह कहते थे कि मैं हिंदी के जरिए प्रांतीय भाषाओं को दबाना नहीं चाहता बल्कि उनके साथ हिंदी को भी मिला देना चाहता हूं। स्वतंत्रता स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान देश के कोने कोने में संघर्षरत स्वतंत्रता सेनानियों से मिलकर उन्होंने यह महसूस किया था कि भारत की राष्ट्रीय एकता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए जन-जन की भाषा हिंदी को राष्ट्रभाषा का देना एक व्यवहारिक कदम है।

महात्मा गांधी जी बहुत ही विलक्षण व्यक्तित्व के धनी थे। उनकी विशेषता यह थी कि किसी बात को सार्वजनिक तौर पर कहने से पूर्व उसे अपने अनुभव और व्यवहार की कसौटी पर कसा करते थे। महात्मा गांधी जी जहां हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने की पुरजोर वकालत करते थे, वहीं हिंदी को राष्ट्रभाषा क्यों बनाई जाए, का स्वरूप क्या होना चाहिए और राष्ट्रभाषा के क्या गुण होने चाहिए, आदि बातों को लेकर भी वह बहुत ही स्पष्ट, संजीदा और जागरूक थे। उन्होंने राष्ट्रभाषा के स्वरूप पर विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि ''भाषा ऐसी हो जो देश के के अधिकांश लोग बोलते हैं, सरल भाषा हो और राज कर्मचारियों के लिए अत्यंत सरल हो एवं राष्ट्रभाषा ऐसी होनी चाहिए जो धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक दायित्व निभा सके''। गुजरात स्थित ''भरूच'' के शैक्षिक सम्मेलन में वर्ष 1917 1917 में अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा था ''भारतीय भाषाओं में केवल हिंदी ही एक ऐसी भाषा है जिसे राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाया जा सकता है क्योंकि वह अधिकांश भारतीयों द्वारा बोली जाती है और समस्त भारतवर्ष में आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक संपर्क के माध्यम के रूप में प्रयोग के लिए सक्षम है तथा इसे देश के लोगों को सीखना आवश्यक है''।

भारत की अंग्रेजी हुकूमत स्वतंत्रता आंदोलन की राष्ट्रीय मुहिम को कमजोर करने के लिए जब भाषाई आधार पर हिंदू और मुसलमानों के बीच जुबान आधारित वैमनस्य और फूट डालने का प्रयास कर रही थी तब गांधी जी ने अंग्रेजों की इस कुटिल चाल को बखूबी समझते हुए हिंदी को हिंदी के स्थान पर हिंदुस्तानी कहना शुरू कर दिया। गांधी जी ने 3 जुलाई 1937 में ''हरिजन सेवक'' में लिखा है मेरा विश्वास है कि:- ''(1) हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दू

शब्द एक ही जुबान का सूचक है जिसे उत्तर भारत में हिंदू और मुसलमान दोनों बोलते हैं और जो देवनागरी या फारसी लिपि में लिखी जाती जाती है। (2) इस भाषा के लिए उर्दू शब्द शुरू होने से पहले हिंदू-मुसलमान दोनों इसे हिंदी ही ''हरिजन सेवक'' में लिखा था कि ''हिंदुस्तानी की की खूबी यह है कि उसे न तो संस्कृत से बैर है, न ही अरबी-फारसी से। हिंदुस्तानी की ताकत तब बढ़ेगी जब वह अपनी मिठास को कायम रखकर दुनिया की सब भाषाओं का सहारा लेगी, लेकिन उसका व्याकरण तो हमेशा हिंदी ही रहेगा''। इन विचारों के पीछे उनकी मान्यता थी कि हिंदुस्तानी की सरलता, जीवंतता तथा आत्मीयता इसकी ग्रहणशीलता और संवाद में है। वह हिंदुस्तानी को हिंदू-मुस्लिम एकता की एक कड़ी मानते थे।

महात्मा गांधी जी हिंदी को न केवल शिक्षा का माध्यम एवं राष्ट्रभाषा बनाना चाहते थे बल्कि हिंदी को ज्ञान, विज्ञान, प्रबंधन, वाणिज्य और विधि की भाषा बनाने के प्रबल समर्थक और और उदघोषक थे। वह ऐसे विचारों के प्रबल विरोधी थे जो यह मानते थे कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान केवल अंग्रेजी द्वारा ही पाया जा सकता है। उन्होंने इस का प्रबल विरोध करते हुए कहा था कि **''मेरा सुविचारित मत है कि अंग्रेजी की शिक्षा जिस रूप में हमारे यहां दी गई है उससे अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों का दुर्बलीकरण हुआ है, भारतीय विद्यार्थियों की स्नायुविक ऊर्जा पर जबरदस्त दबाव डाला है और हमें नकलची बना दिया है। अनुवादकों की जमात पैदा करने से कोई भी देश राष्ट्र नहीं बन सकता। आज अंग्रेजी निर्विवाद रूप से विश्व-भाषा है। यह हमारी मानसिक दासता है जो हम समझते हैं कि अंग्रेजी अंग्रेजी के बिना हमारा काम नहीं चल सकता। मैं इस पराजयवाद का समर्थन कभी नहीं कर सकता''।** गांधीजी विज्ञान, व्यापार, वाणिज्य के साथ साथ हिन्दी को विधि और न्याय की भाषा बनाने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे और इसी को को लक्ष्य करते हुए उन्होंने कहा था कि **''उच्च न्यायालय तथा न्याय-व्यवहार की भाषा प्रादेशिक भाषा होनी चाहिए, तो सर्वोच्च न्यायालय की भाषा हिंदी-हिंदुस्तानी होनी चाहिए। लेकिन हमने समूची न्याय प्रणाली अंग्रेजों से विश्व विरासत के रूप में ली है, इसीलिए उसमें भाषा, पोशाक और चिंतन, इनमें से कुछ भी स्वदेशी नहीं है और यही हालात सभी कार्यों में दिखाई दे रहे हैं। ऐसा लगता है मानो आज भी भारत इंग्लैंड का विस्तारित हिस्सा ही है, इस पर भी गंभीरता से विचार करना होगा''।**

गांधी जी बहुत ही कर्मठ इंसान थे। उनकी कथनी और करनी में कोई अंतर नहीं था। उनकी इसी दूर-दृष्टि और सोच ने हिंदी को राष्ट्रभाषा/राजभाषा के रूप में प्रतिस्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने अपने भाषणों और व्याख्यानों के माध्यम से न केवल हिंदी को भारत के कोने कोने तक पहुंचाया अपितु अपितु अपितु हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए भी अथक परिश्रम किया। 1918 में ''इंदौर'' में हिंदी साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए हिंदी के प्रचार-प्रसार की आवश्यकता पर जोर

दिया। इसी क्रम में उन्होंने अपने पुत्र श्री देवदास गांधी तथा स्वामी सत्यदेव को हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए मद्रास भेजा। इसके अतिरिक्त 1936 में 'वर्धा' गुजरात में 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' की स्थापना कर हिंदीतर भाषी भारतीयों तथा प्रवासी भारतीयों और विदेशियों को हिंदी सिखाने का बीड़ा उठाया। आज दक्षिण भारत में अध्ययन-अध्यापन का जो स्वरूप दिख रहा है उसमें महात्मा गांधी जी की दूरदर्शी सोच के तहत 'मद्रास' में स्थापित 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' तथा 'वर्धा' में स्थापित 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' जैसी संस्थाओं का अहम योगदान है। हिंदी भाषा गांधीजी के दिलो-दिमाग में इस तरह छाई हुई थी कि वह न केवल राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं को अपना भाषण/व्याख्यान देश के कोने कोने में हिंदी में देने के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित करते थे बल्कि उन्होंने महाकवि रविंद्रनाथ टैगोर जैसे महामानव को भी अपने विचार हिंदी में रखने के लिए अनुप्राणित किया। महाकवि टैगोर ने अपने एक संस्मरण में लिखा है है कि जब उन्हें एक बार गुजरात में व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया गया तो उन्होंने महात्मा गांधी से किस भाषा में व्याख्यान दें, क्योंकि उन्हें गुजराती नहीं आती थी, इसकी सलाह हेतु एक पत्र लिखा। इसके प्रत्युत्तर में महात्मा गांधी जी ने उन्हें अपना व्याख्यान ''जैसी भी हिंदी आती हो उसी हिंदी में'' देने की सलाह दी। महाकवि टैगोर लिखते हैं कि हिन्दी में में दिए गए उनके इस व्याख्यान की बहुत ही सराहना हुई और वह व्याख्यान उनके लिए अविस्मरणीय अनुभव बन गया। इसी तरह एक राष्ट्रभाषा सम्मेलन में लोकमान्य तिलक द्वारा अपना भाषण अंग्रेजी में दिए जाने पर गांधीजी ने तिलक जी से कहा था कि इसीलिए मैं कहता हूं कि हिंदी सीखने की आवश्यकता है। इसके पश्चात लोकमान्य तिलक जी ने गांधीजी के सुझाव को मानते हुए हिंदी सीख कर आजीवन अपना व्याख्यान/भाषण हिंदी में ही दिया। इस तरह स्वतंत्रता आंदोलन के सभी भारतीय नेताओं ने महात्मा गांधी जी के विचारों का अनुसरण करते हुए हिंदी सीखने और हिंदी में अपने विचार रखते हुए स्वतंत्रता के राष्ट्रीय आंदोलन को राष्ट्रभाषा हिंदी का आंदोलन बनाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। यहां यह कहना अतिश्योक्ति न होगी कि गांधी जी अपने सत्प्रयासों से हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के आंदोलन में सफल रहे।

27 दिसंबर, 1917 को भाषा के संबंध में गांधी जी ने भाषा को जीवन से जुड़ने तथा जनता के निकटस्थ रहने वाली चीज कहते हुए कहा था ''यदि हम अंग्रेजी के आदी नहीं हो गए होते तो यह समझने में हमें देर नहीं लगती कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होने से हमारी बौद्धिक चेतना जीवन से कटकर दूर हो गई है। हम अपनी जनता से दूर हो गए हैं''। ''इसी तरह उन्होंने 15 अगस्त, 1947 को दिए गए अपने एक संदेश में कहा था कि ''हिंदी ही हिंदुस्तान के के शिक्षित समुदाय की सामान्य भाषा हो सकती है, यह बात निर्विवाद है। यह कैसे हो, केवल यही यही विचार करना है। जिस स्थान को आजकल अंग्रेजी लेने का प्रयास कर रही है और जिसे

लेना उसके लिए असंभव है, वही स्थान हिंदी को मिलना चाहिए क्योंकि हिंदी का उस पर पूर्ण अधिकार है। हिंदी शिक्षित वर्गों के बीच समान माध्यम ही नहीं बल्कि जनसाधारण के हृदय तक पहुंचने का द्वार बन सकती है''।

गांधी जी के उक्त दोनों विचारों का यदि हम तुलनात्मक अनुशीलन और विश्लेषण करें तो तो यह मानने में कोई दो राय नहीं है कि गांधी जी के राजनीतिक जीवन में पदार्पण से लेकर जीवनपर्यंत हिंदी के प्रति उनकी अधिमान्यता और लगाव देश की तमाम शोषित, वंचित, दलित, दलित, दमित, अशिक्षित और धर्म और भाषा के आधार पर विभाजित जनता को राष्ट्र निर्माण की मुख्यधारा में लाने का एक सत प्रयास था। क्योंकि उनका मानना था कि हिंदी ही एक ऐसी भाषा है जो देश के विशाल जनसमूह की सभ्यता और संस्कृति की न केवल संवाहक है अपितु उसमें भारत को एक सशक्त राष्ट्र बनाने की क्षमता और सामर्थ्य भी निहित है। वहीं दूसरी तरफ अंग्रेजी शासकीय भाषा होने के अहंकार से तथा दूसरी भाषा को कमतर आंकने की भावना से ओतप्रोत है। इसीलिए गांधी जी जीवनपर्यंत अंग्रेजी के स्थान पर हिंदी सहित समस्त भारतीय भाषाओं को स्थापित करने की पुरजोर वकालत करते रहे। उन्होंने हिंदी सहित सभी भारतीय भाषाओं का सम्मान करते हुए 17 मई, 1942 को कहा था कि ''**महान प्रांतीय भाषाओं को उनके स्थान से हटाने की कोई बात ही नहीं है क्योंकि राष्ट्रभाषा की इमारत प्रांतीय भाषाओं की नींव पर ही खड़ी की जानी है। दोनों का लक्ष्य एक दूसरे की जगह लेना नहीं बल्कि एक दूसरे की कमी को पूरा करना है। गांधीजी सदैव यह कहा करते थे कि कोई भी देश सही माने में तब तक स्वतंत्र नहीं कहा जाएगा जब तक कि वह अपनी भाषा में नहीं बोलता है''।**

भारतीय संस्कृति तथा सभी भारतीय भाषाओं के पक्षपोषक गांधीजी न केवल मातृभाषा, संपर्क भाषा, राष्ट्रभाषा/राजभाषा के मर्मभेद को जाने वाले कुशल चितेरे थे बल्कि उन्होंने आज के लगभग 100 साल पूर्व ही बोलियों को भाषा का रूप देने की प्रवृत्ति को भांपते भांपते हुए कहा था कि ''जो वृत्ति इतनी वर्जनशील वर्जनशील और संकीर्ण है कि हर बोली को चिरस्थाई बनाना और विकसित करना चाहती है वह राष्ट्र विरोधी और विश्व विरोधी है। मेरी विनम्र सम्मति में तमाम अविकसित और अलिखित बोलियों का बलिदान करके उन्हें हिंदी या हिंदुस्तानी की धारा में मिला देना चाहिए। यह आत्महत्या नहीं बल्कि राष्ट्रहित और देशहित में की गई कुर्बानी होगी''। आज जब भारत में विभिन्न बोलियों को संविधान की आठवीं अनुसूची अनुसूची में शामिल करने की मुहिम चल रही है तो गांधीजी का उक्त कथन फिर एक बार प्रासंगिक हो गया है।

गांधीजी न केवल तमाम बोलिओं को हिंदी हिंदी के साथ मिला देने के समर्थक थे बल्कि वह वह चाहते थे कि देवनागरी लिपि सभी भारतीय भाषाओं की सामान्य लिपि भी होनी चाहिए। उनका मानना था प्रांतीय भाषाओं को प्रांतीय लिपि लिपि के साथ-साथ देवनागरी लिपि में भी लिखा जाना चाहिए।

गांधीजी द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त विचारों के अनुशीलन और मनन से मानस पटल पर यह विचार स्वाभाविक रूप से तरंगित होने लगता है कि कि महात्मा गांधी जी न केवल राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के महानायक थे अपितु हिंदी सहित सभी भारतीय भाषाओं के उन्नायक तथा पुनरुद्धारकर्ता भी थे। हिन्दी सहित भारतीय भाषाओं की डूबती नैया के अग्रणी एवं सबल खेवैया थे। उन्होंने जनमानस में भाषाई चेतना को जगा कर देश सेवा करने का जो अविस्मरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया उसके लिए भारत का जन-जन चिरकाल तक न केवल उनका उनका ऋणी रहेगा बल्कि गांधी जी का नाम लेते ही उनमें अपनी मातृभाषा/राष्ट्रभाषा के प्रति आत्मसम्मान की भावना जागृत होती रहेगी। गांधीजी मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा प्रदान करने के प्रबल समर्थक थे। आज जब शिक्षा जगत पर आए अंग्रेजी भाषा के चक्रवात से हमारी राष्ट्रीयता और संस्कृति पर सुनामी का खतरा मंडरा रहा है तो उनका यह निम्न ओजस्वी संदेश हमें सदैव हिंदी सहित भारतीय भाषाओं की अस्मिता को चुनौती देने वाली समस्याओं के निराकरण के प्रति जागृत करता रहेगा:-

''आज की सबसे पहली और सबसे बड़ी समाज सेवा यह है कि हम अपने देशी भाषाओं की ओर मुड़े और हिंदी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करें। हमें अपनी सभी प्रादेशिक कार्रवाइयां अपनीअपनी भाषाओं में चलानी चाहिए तथा हमारी राष्ट्रीय कार्रवाइयों की भाषा हिंदी होनी चाहिए। जब तक हमारे स्कूल और कॉलेज विभिन्न देशी भाषाओं में शिक्षा देना आरंभ आरंभ नहीं करते तब तक हमें आराम लेने का अधिकार नहीं है''।

गांधीजी का न केवल यह मानना था बल्कि यह विश्वास था कि **भाषायी दृष्टि से एकता एकता के सूत्र में आबद्ध राष्ट्र ही विदेशी भाषा चंगुल से मुक्त हो सकता है।** इसलिए वह आजीवन हिंदी सहित भारतीय भाषाओं के उत्थान, विकास एवं प्रचार-प्रसार के लिए प्राणपण प्राणपण अग्रसर रहे। हिंदी के प्रति गांधी जी के लगाव और अपनत्व को देखकर हिन्दी को पूज्य बापू जी की मानसपुत्री कहना सर्वथा समीचीन होगा। भारत के राष्ट्रीय राजनीतिक मंच पर शायद ही ऐसा कोई राजनेता होगा जिसने बापू जी की तरह मातृभाषा तथा हिंदी को प्रारंभिक शिक्षा का माध्यम बनाने का प्राणपण उद्बोधन किया हो। मेरा मानना है यदि बापूजी असमय कालकवलित न हुए होते तो हिंदी न केवल भारत भारत की राष्ट्रभाषा अपितु आज विश्व भाषा के रूप में पदस्थ होती। ***आज़ादी के अमृत महोत्सव के 75वें वर्ष*** की पुण्य बेला पर हम सभी देश और विदेश में रहने वाले भारतीयों का न केवल नैतिक, बल्कि राष्ट्रीय दायित्व भी है कि हम सभी अपनी जाति, धर्म, वर्ग, भाषा और क्षेत्र की सीमाओं से ऊपर उठकर हिंदी को सभी भारतीय भाषाओं के सहयोग से राष्ट्रभाषा/विश्वभाषा का दर्जा दिलाने का संकल्प लें। आज हम राजनीतिक रूप से भले ही आजाद हो गए हैं, पर मानसिक रूप से आज भी अंग्रेजी भाषा के गुलाम गुलाम हैं।

एक राष्ट्र हो, एक राष्ट्रध्वज, एक राष्ट्र की भाषा।
प्रांतीय भाषाओं के पाथेय से, हिन्दी बने राष्ट्रभाषा।

देवनागरी लिपि में हिन्दी बने विश्व एकता की भाषा।।

मेरी दृष्टि में आजादी के अमृत महोत्सव के 75वें वर्ष में हम भारतीयों का यही संकल्प पूज्य जी के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

****

सरदार पटेल की कर्त्तव्यनिष्ठा

सरदार वल्लभ भाई पटेल अदालत में एक मुकदमे की पैरवी कर रहे थे। मामला बहुत गंभीर था। थोड़ी सी लापरवाही भी उनके क्लायंट को फाँसी की सजा दिला सकती थी। सरदार पटेल जज के सामने तर्क दे रहे थे। तभी एक व्यक्ति ने आकर उन्हें एक कागज थमाया। पटेल जी ने उस कागज को पढ़ा। एक क्षण के लिए उनका चेहरा गंभीर हो गया। लेकिन फिर उन्होंने उस कागज को मोड़कर जेब में रख लिया। मुकदमे की कार्यवाही समाप्त हुई।

सरदार पटेल के प्रभावशाली तर्कों से उनके क्लायंट की जीत हुई। अदालत से निकलते समय उनके एक साथी वकील ने पटेल जी से पूछा कि कागज में क्या था? तब सरदार पटेल ने बताया कि वह मेरी पत्नी की मृत्यु की सूचना का तार था। साथी वकील ने आश्चर्य से कहा कि इतनी बड़ी घटना घट गई और आप बहस करते रहे। सरदार पटेल ने उत्तर दिया, "उस समय मैं अपना कर्त्तव्य पूरा कर रहा था। मेरे क्लायंट का जीवन मेरी बहस पर निर्भर था। मेरी थोड़ी सी अधीरता उसे फाँसी के तख्ते पर पहुँचा सकती थी। मैं उसे कैसे छोड़ सकता था? पत्नी तो जा ही चुकी थी। क्लायंट को कैसे जाने देता?" ऐसे गंभीर और दृढ़ चरित्र के कारण ही वे लौह पुरुष कहे जाते हैं।

गौतम बुद्ध का गृहनगर कपिलवस्तु

डॉ. शमऊन अहमद
सहायक अधीक्षण पुरातत्वविद्
भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली

आज से लगभग ढाई हज़ार वर्ष पूर्व उत्तर भारत में सोलह महाजनपद एवं कई गणराज्य विद्यमान थे। हिमालय की तराई में स्थित कपिलवस्तु (अक्षांश 27。 26′ 30″ उ.′ देशान्तर 83。 7′50″ पूर्व) के शाक्य इन्हीं में से एक थे। कपिलवस्तु की पहचान उत्तर प्रदेश में सिद्धार्थनगर जनपद के पिपरहवा एवं गनवरिया नामक स्थान से की गई है। यह महात्मा बुद्ध का गृह नगर है। इसी स्थल पर भगवान बुद्ध का बाल्यकाल व्यतीत हुआ था। राजकुमार सिद्धार्थ के रूप में 29 वर्ष की युवावस्था में राजसी वैभव को त्यागकर उन्होंने यहीं से सत्य व मोक्ष की खोज में प्रस्थान किया था।

कपिलवस्तु की उत्पत्ति एवं शाक्यों का प्रादुर्भाव

पालि ग्रंथों के अनुसार इक्ष्वाकुवंशी ओक्कक के वंशज विरुद्धक साकेत के राजा थे। विरुद्धक की प्रथम पत्नी की निर्वासित संतानों के कपिल मुनि के कहने पर उनकी कुटी के समीप ही रहने एवं कालान्तर में एक वैभवपूर्ण गणराज्य के रूप में विकसित करने के कारण कपिल मुनि के नाम पर इस स्थान का नाम कपिलवस्तु पड़ा।

शाक्य वंश के संबंध में विविध मत हैं। किंतु सर्वप्रचलित मत है कि कपिल मुनि शक (शाल) अर्थात शकसन्द या शकावनन्द के वन में रहते थे। अतः इसी शालवन के नाम से शाक्य शब्द की उत्पत्ति हुई।

प्राचीनतम गणराज्य

अंगुतर निकाय में बुद्धकालीन भारत के राजनीतिक परिदृश्य का एक रोचक विवरण प्राप्त होता है। तत्कालीन भारत में सोलह महाजनपद व्याप्त थे एवं आठ गणराज्यों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें कपिलवस्तु के शाक्य, रामग्राम के कोलिय, पिप्पलवन के मोरिय, कुशीनारा एवं पावा के मल्ल, अलकप्प के बुलीय, सुसुमारगिरि के भग्ग, वैशाली के लिच्छवि एवं मिथिला के विदेह सम्मिलित थे। इन गणराज्यों की शासन पद्धति बहुत ही वैज्ञानिक एवं मताधिकार पर आधारित थी। इन गणराज्यों का एक गणप्रमुख होता था जिसे संभवतः दस वर्षों के लिए निर्वाचित किया जाता था। साम्राज्य की समस्त कार्यपालक शक्तियाँ गणप्रमुख में अन्तर्निहित होती थीं।

कपिलवस्तु के शाक्यों का वैभव

छठी शताब्दी ईसा पूर्व में कपिलवस्तु शाक्य गणराज्य का राजधानी नगर था। बुद्ध के पिता शुद्धोदन इस गण के प्रमुख थे। प्रसेनजित ने कपिलवस्तु भ्रमण के दौरान किसी शाक्य कन्या से विवाह करने की इच्छा प्रकट की, परन्तु शाक्य राजकुमारियों का विवाह दूसरे वंश में न करने की प्रथा के कारण शाक्यों ने छल करते हुए एक दासी का विवाह शाक्य कन्या बताकर प्रसेनजित के साथ कर दिया। विड्डभ इस दासी का पुत्र था और अपने पिता प्रसेनजित के साथ किए गए कपट से आहत था। भगवान बुद्ध के जीवन काल में ही राजा विड्डभ ने

गौतम बुद्ध की कमलासीन मृण्मूर्ति

शाक्यों से बदला लेने के लिए कपिलवस्तु पर आक्रमण कर उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। इस घटना के पश्चात् भी शाक्यों का अस्तित्व बना रहा तथा बुद्ध के निर्वाणोपरान्त उनके अस्थि अवशेषों का एक भाग शाक्यों ने प्राप्त कर कपिलवस्तु में स्तूप स्थापित किया।

स्तूप

अब प्रश्न है कि स्तूप क्या है? वस्तुतः स्तूप अथवा पालि 'थूप' की उत्पत्ति संस्कृत शब्द 'स्तूप्' से हुई है, जिसका अर्थ ढेर है। प्राचीन काल से ही मृतक की चिता से एकत्र जली हड्डी एवं राख पर बनाए गए शवाधान के लिए प्रयुक्त किया जाता था। भगवान बुद्ध ने अपने चचेरे भाई और प्रिय शिष्य आनन्द से महापरिनिर्वाण के पश्चात् अपने धातु-अवशेष पर स्तूप-निर्माण की इच्छा व्यक्त की थी।

अवशेषों के आठ दावेदार

बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि भगवान बुद्ध के अवशेषों को आठ दावेदारों (मगध का अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवि, कपिलवस्तु के शाक्य, रामग्राम के कोलिय, पावा एवं कुशीनगर के मल्ल, अल्लकप्प के बुलि और बेट्ठदीप के बाह्मण) में विभाजित किया गया था। प्रारंभ में इन्हीं पर शारीकि-स्तूप बनाए गए थे। इसके पश्चात् स्तूप एक ढेरी से कहीं अधिक एक भव्य स्मारक तथा स्थापत्य के अद्भुत नमूने के रूप में विकसित हुए और बौद्ध मत के अटूट प्रतीक बन गए।

सम्राट अशोक और बौद्ध मत का विस्तार

सम्राट अशोक के प्रयासों से बौद्ध मत का विस्तार देश से बाहर भी हुआ। उसने इन प्रारंभिक स्तूपों से पवित्र अवशेष निकालकर अपने साम्राज्य के साथ ही श्रीलंका में अनेक स्तूप बनवाए। पालि ग्रंथ में यहां तक बताते हैं कि अशोक ने चौरासी हज़ार स्तूप बनवाए थे।

कपिलवस्तु का पराभव

चीनी यात्री फ़ाहियान के यात्रा वृत्तांत से ज्ञात होता है कि चौथी सदी ई. में यह स्थल उजाड़ हो चुका था। यहां कुछ भिक्षु और लगभग दस साधारण परिवार निवास कर रहे थे। एक अन्य चीनी यात्री ह्वेनसांग ने (लगभग 629 ई.) भी कपिलवस्तु का ऐसा ही विवरण दिया है। कालान्तर मे कपिलवस्तु पूर्णतः विस्मृत हो गया।

कपिलवस्तु की खोज के प्रयास

1858 में लेसन ने गोरखपुर के निकट रोहिन के तट पर स्थित अवशेषों की पहचान कपिलवस्तु के रूप में की थी, जबकि अलेक्ज़ेण्डर कनिंघम ने बस्ती जनपद के नगरख़ास को कपिलवस्तु के रूप में पहचाना। कनिंघम के सहायक ए.सी.एल. कार्लाइल ने 1875-76 में बस्ती जनपद स्थित भुइलाडीह का तादात्म्य कपिलवस्तु से स्थापित किया।

मील का पत्थर

1898 में बर्डपुर के ज़मीदार विलियम क्लैक्स्टन पेपे को पिपरहवा में उत्खनन के दौरान स्तूप के बीचोबीच चौबीस फीट नीचे बलुआ पत्थर का एक ढक्कनयुक्त चौकोर बॉक्स मिला। इस विशाल बाक्स का वज़न 697 कि.ग्रा. तथा ढक्कन का वज़न 185 कि.ग्रा. था। इस बाक्स में साढ़े सात इंच ऊँचा तथा साढ़े चार इंच व्यास का स्टेटाइट पत्थर का एक पात्र; छः इंच ऊँचा तथा साढ़े चार इंच व्यास का पूर्व जैसा ही अभिलिखित पात्र; साढ़े पांच इंच ऊँचा तथा सवा पांच इंच व्यास का लोटे की आकृति वाला ढक्कनयुक्त पात्र; सवा तीन इंच व्यास तथा सवा दो इंच ऊँचा स्टेटाइट पत्थर से बना एक छोटा पात्र; तथा क्रिस्टल निर्मित सवा चार इंच व्यास तथा लगभग साढ़े चार इंच ऊँचा (ढक्कनयुक्त) चमकदार पात्र रखा हुआ था।

इन पात्रों में सैकड़ों बहुमूल्य वस्तुएं थीं। इनमें अस्थि अवशेषों के अतिरिक्त स्वर्ण निर्मित नारी आकृतियुक्त फलक, वलयाकृति मुद्रित तश्तरी, शलाका एवं विभिन्न चिन्हों, जैसे स्वास्तिक, त्रिकोणात्मक ध्वज आदि, स्वर्ण व रजत से निर्मित पुष्प एवं तारे, ताबीज़ जैसी एक लघु मंजूषा, छिद्रित एवं अछिद्रित मोती, अर्ध-मूल्यवान पत्थरों से निर्मित पक्षी, त्रिरत्न एवं पुष्पाकृतियां, मूंगे के टुकडे, अर्ध-मूल्यवान पत्थरों तथा मूंगे से बने विभिन्न आकार के तराशे हुए मनके, सीप से निर्मित वस्तुएं, स्वर्ण, रजत, अर्ध-मूल्यवान पत्थर व अभ्रक के टुकड़े तथा कुण्डलीदार तांबे के तार आदि वस्तुएं प्राप्त हुईं। इसके अतिरिक्त लकड़ी तथा चांदी से निर्मित टूटे हुए पात्र भी प्राप्त हुए।

स्टेटाइट पत्थर से निर्मित छोटे पात्र के ढक्कन पर प्राक्-मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि में निम्न लेख अंकित हैः-

सुकिति भतिनं स भगिनिकनं स पुत दलनं।
इयं सलिल निधने बुधस भगवते सकियानं।।

इस अभिलेख का अनेक विद्वानों द्वारा अनुवाद किया गया है। इसके अनुसार, बुद्ध के परिजनों (अथवा वंशजों) ने इस अस्थि अवशेष को यहां स्थापित किया। पालि ग्रंथों में प्राप्त विवरण एवं अन्य बौद्ध परंपराओं के अनुसार बुद्ध के निर्वाण के तत्काल बाद उनके अस्थि अवशेषों के ऊपर आठ स्थानों पर स्तूप निर्मित किए गए थे।

पिपरहवा से प्राप्त अभिलेखयुक्त कलश से प्रेरित होकर भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के पी.सी. मुखर्जी को नेपाल की तराई में अन्वेषण एवं उत्खनन का दायित्व सौंपा गया। 1899 में उन्होंने पिपरहवा सहित कुछ अन्य स्थानों पर छोटे-छोटे उत्खनन किए परंतु वह किसी ठोस निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सके।

1962 में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण की देबला मित्रा ने प्राचीन कपिलवस्तु गणराज्य से विख्यात स्थलों पर गहन अन्वेषण एवं उत्खनन किया और मत प्रकट किया कि पिपरहवा के मुख्य स्तूप से प्राप्त अभिलेखयुक्त अस्थि-कलश एवं फाह्यन के विवरण में उल्लेखित लुम्बिनी से कपिलवस्तु की दूरी के आधार पर पिपरहवा एवं गनवरिया कपिलवस्तु के प्राचीन स्थल हो सकते हैं।

पिपरहवा स्थित मुख्य स्तूप का विहंगम दृश्य

कपिलवस्तु की सुनिश्चित पहचान

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण ने श्री के. एम. श्रीवास्तव के नेतृत्व में पिपरहवा एवं गनवरिया के पुरास्थलों पर सन् 1971 में उत्खनन प्रारंभ किया जिसका उद्देश्य प्राचीन कपिलवस्तु की खोज एवं इस संबंध में चले आ रहे विवाद का पटाक्षेप करना था। सौभाग्यवश, उन्नीसवीं सदी

से ही पुरातत्वविदों के लिए मृगमरीचिका बन चुके कपिलवस्तु की खोज की दिशा में यह उत्खनन एक ऐतिहासिक सोपान सिद्ध हुआ। 1973 में उत्खनन से प्राप्त मुद्रांकों पर अंकित अभिलेखों में ओम् देवपुत्र विहारे कपिलवस्तु भिक्खु संघस, एवं महा कपिलवस्तु भिक्षु संघस के अंकन से इस स्थान की 'कपिलवस्तु' के रूप में सुनिश्चित पहचान सिद्ध हो गयी।

स्तूप-निर्माण के तीन चरण

स्पष्टतः पिपरहवा का स्तूप सबसे प्राचीन शारीरिक-स्तूपों में से एक है और कपिलवस्तु के शाक्यों ने अपने हिस्से के अवशेषों पर बनवाया था। विविध अनुसंधानो से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि इस स्तूप का निर्माण तीन चरणों में किया गया।

प्रथम चरण

स्तूप के प्रथम चरण का निर्माण मिट्टी के भराव के माध्यम से किया गया था जिसका अधिकतम् व्यास 38.90 मी. तथा ऊँचाई 0.75 मी. थी। स्तूप के चारों ओर दो मी. चौड़ा प्रदक्षिणा-पथ था जिसे रोड़ों से भरा गया था और दोनों किनारों पर ईंटें लगाई गईं थीं। स्तूप में पक्की ईंट के दो कोष्ठ, दो अलग-अलग गहराई पर बनाए गए थे, जिनमें से प्रत्येक में एक स्लेट निर्मित अस्थि-कलश प्राप्त हुआ। सबसे निचले स्तर प्राप्त अस्थि-कलश 1898 में पेपे को प्राप्त अभिलेखित कलश से बड़ा है। कोष्ठ के ऊपर 0.90 मी. की 42ग27ग07 से.मी. आकार की पकी ईंटों की चिनाई की गई थी। स्तूप का आधार पर व्यास 23.0 मी. तथा अण्ड पर 19.0 मी. था। इस स्तर का निर्माण 6-5वीं शताब्दी ई.पू. में हुआ था।

द्वितीय चरण

द्वितीय चरण का निर्माण तीसरी शताब्दी ई.पू. में प्रारंभ हुआ। इस चरण में द्विस्तरीय चिनाई करके स्तूप का विस्तार किया गया। निचले स्तर का आधार अण्ड से 1.52 मी. था, जबकि अण्ड का व्यास अभी भी 19.0 मी. बना रहा। इस चरण में 42ग27ग07 से.मी. आकार की पकी ईंट के 42 रद्दे जोड़े गए जिससे स्तूप की कुल ऊंचाई 4.55 मी. हो गई। 1898 में पेपे को इस चरण से विशाल बॉक्स में अस्थि-कलश की प्राप्ति महत्वपूर्ण खोज थी।

तृतीय चरण

इस चरण में स्तूप का पुनः विस्तार किया गया और वृत्ताकार मेधि को वर्गाकार आधार में परिवर्तित कर दिया गया जिसकी प्रत्येक भुजा 23.5 मी. है। संभवतः पूजा के निमित्त नियमित अंतराल पर आयताकार आले बनाए गए थे जिनकी चौड़ाई 80 से.मी. तथा गहराई 20 से.मी. थी। अण्ड का व्यास 19 मी. से बढ़ाकर 23 मी. कर दिया गया। ईंट के 13 रद्दे और जोड़कर स्तूप की कुल ऊंचाई 6.35 मी. कर दी गयी। कुछ अलंकृत ईंटों के अपवादों को छोड़कर इस चरण में 38 से 42ग26 से 29ग07 से 08 से.मी. के आकार की ईंटों का प्रयोग

किया गया था। । इस चरण में पेपे को स्तूप के शिखर से तीन मी. नीचे एक अस्थि-कलश क्षतिग्रस्त अवस्था में प्राप्त हुआ था जो संभवतः कुषाणकालीन है।

संघाराम

स्तूप के आसपास अनेक संघाराम एवं लघु-स्तूप भी प्राप्त हुए हैं। मुख्य स्तूप से पूर्व में अवस्थित संघाराम के मध्य में एक विशाल प्रांगण तथा इसके चारों ओर तैंतीस कक्ष बने थे। इन कक्षों के सम्मुख स्तंभयुक्त बरामदे के अवशेष हैं। मुख्य स्तूप से दक्षिण की ओर स्थित विहार वर्गाकार था जिसके मध्य में एक प्रांगण तथा इसमें 21 छोटे कक्ष निर्मित थे।

मुख्य स्तूप से पश्चिम की ओर अपेक्षाकृत एक ऊँचे स्थान पर संघाराम के अवशेष स्थित हैं जिसका भू-विन्यास वर्गाकार है। इस विहार का प्रवेशद्वार पूर्व की ओर था जिसके एक ओर दो लघु कक्षों के अवशेष विद्यमान है। इस विहार से मित्र एवं प्रारम्भिक कुषाणकालीन सिक्कों के अतिरिक्त लोहे के वाणाग्र तथा कीलें आदि प्राप्त हुई थीं।

उत्तरी संघाराम इस पुरास्थल पर विद्यमान अन्य विहारों से अपेक्षाकृत छोटा है। इस विहार के मध्य में एक चौकोर पक्का प्रांगण तथा इसके चारों ओर 16 लघु कक्षों और बरामदे के अवशेष प्राप्त हुए हैं।

उक्त संरचना के समीप 4.80 मी. व्यास के एक मनौती स्तूप के अवशेष विद्यमान हैं। इसी प्रकार उक्त संघाराम के पश्चिमी दिशा में वर्गाकार आधार वाले एक लघु स्तूप के अवशेष विद्यमान हैं। इस स्तूप का आधार 6.35 मी. वर्गाकार तथा अण्ड का व्यास 5.50 मी. है।

गनवरिया

पुरातात्विक अन्वेषणों के पश्चात इस स्थल की पहचान प्राचीन कपिलवस्तु के आवसीय क्षेत्र से की गई है। यहां से आठवीं शताब्दी ई.पू. से तृतीय शताब्दी ई. तक के अवशेष प्राप्त हुए हैं। गनवरिया में हुए उत्खनन के परिणामस्वरूप अनेक आवासों, स्तूप तथा कुंओं आदि के अवशेष प्रकाश में आये हैं।

विशाल संरचना के अवशेष

यहां पर टीले के पश्चिमी छोर पर एक ईंटों से निर्मित एक विशाल परिसर के अवशेष विद्यमान हैं। लगभग 38 मी. वर्गाकार इस संरचना के मध्य में ईंटों द्वारा निर्मित एक विशाल आंगन तथा इसको चारों ओर 26 कक्षों के अवशेष हैं जिनके सामने बरामदे का प्रावधान था। पूर्व की ओर प्रवेश की व्यवस्था थी जिसके एक ओर दो बड़े कक्षों के अवशेष विद्यमान हैं। इसके बाहरी दीवार की चौड़ाई लगभग दो मीटर जबकि भीतरी दीवार की मोटाई 1.70 मी. थी। आंगन के दक्षिण-पश्चिमी भाग में एक संकरी नाली के अवशेष प्रकाश में आये हैं जिसके द्वारा जल बाहर निकलता रहा होगा। यह किसी बड़े बौद्ध विहार अथवा महल के अवशेष प्रतीत होते

हैं। इस परिसर का निर्माण छठी शताब्दी ई.पू. में तथा उपयोग प्रथम शती ई. तक हुआ होगा।

आवासीय परिसर

इस परिसर में अनेक कक्षों, ईंटों की फर्शयुक्त बड़ा कक्ष, वीथिका तथा एक कुंए के अवशेष उत्खनन द्वारा प्रकाश में आये हैं। इसकी पूर्व से पश्चिम की ओर लम्बाई 21.50 मी. तथा उत्तर से दक्षिण की ओर 15 मी. की है।

लघु विहार

पूर्व की ओर एक अन्य अपेक्षाकृत छोटे विहार के अवशेष विद्यमान हैं जो माप में 26 से.मी. वर्गाकार है जिसके मध्य में 10.70 मी. वर्गाकार का आंगन तथा इसके चारों ओर 21 छोट-छोटे कक्षों के अवशेष विद्यमान हैं। इनकी माप 2ण्10ग3ण्10 मी. है। आंगन में ईंट-निर्मित फर्श के साक्ष्य मिले हैं जिसके उत्तर-पूर्वी छोर पर 1.25 व्यास के कुंए के अवशेष विद्यमान हैं। पूर्वाभिमुख इस संरचना का प्रवेश द्वार 3.15 मी. चौड़ा था जिसमें दोनो ओर एक-एक विशाल कक्ष था। गनवरिया से चार मन्दिर एवं अनेक अन्य भवनों के अवशेष प्रकाश में आए हैं। इन चारों मन्दिरों में से दो योजना में भव्य है।

यहां से प्राप्त पुरावशेषों में कमलासन पर बैठे बुद्ध की मूर्ति, माँ की गोद में शिशु, स्त्री की मृण्मूर्ति, शिव का कुडंलयुक्त शिरोभाग इत्यादि महत्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त उत्खनन से धातु की वस्तुएं, कांच तथा पत्थरों के मनके तथा सिक्के जिनमें एक चांदी का पंचमार्क सिक्का व एक कुषाणकालीन तांबे के सिक्के मुख्य हैं। कपिलवस्तु में उत्खनन से प्राप्त कुछ अवशेषों को कपिलवस्तु के पुरातत्व संग्रहालय में रखा गया है जिनमे मूर्तियां, मुद्रा एवं मुद्रांक, मिट्टी के खिलौने, मनके, चूड़ियां, मिट्टी के बर्तन, वाणाग्र एवं अंजनशलाकाएं भी सम्मिलित हैं।

गनवरिया स्थित विशाल परिसर

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण ने सन 2013 में डा. बी. आर. मणि एवं प्रवीण कुमार मिश्र के संयुक्त नेतृत्व में यहां पुनः उत्खनन कार्य किया जिससे प्राप्त अवशेषों की कार्बन-तिथि से इन स्थलों की प्राचीनता दो हजार वर्ष ई.पू. तक प्रमाणित हो रही है।

****

बंजारा : पलाश के फूलों जैसी खिलने वाली मायड भाषा

एकनाथ पवार नायक
अध्यापक व साहित्यिक,
जिला परिषद शासकीय विद्यालय
नागपुर (महाराष्ट्र)

मातृभाषा अपनी जननी की भाषा होती है जिसमें माँ की सहज नमी समाहित होती है। मातृभाषा अभिव्यक्ति को आकार देती है। इससे मन और मस्तिष्क का विकास होता है। इसलिए मानव जीवन में मातृभाषा का सर्वाधिक महत्व है। भावनाओं और विचारों को व्यक्त करने के लिए मातृभाषा एक प्रभावी माध्यम है। मातृभाषा में नमी, प्रवाह और दृढ़ता की गारंटी होती है। दुनिया भर में छह हजार से अधिक मातृभाषाएं बोली जाती हैं। युनेस्को ने मातृभाषा की मान्यता में 17 नवंबर, 1999 को विश्व मातृभाषा दिवस के रूप में मनाने का ऐतिहासिक निर्णय लिया। मातृभाषा राष्ट्रीयताओं को जोड़ने वाला एक शक्तिशाली सेतु है, क्योंकि वही पूर्वजों की शाश्वत पहचान है। और विविधता में एकता और एकता में गरिमा दर्शाने की अहम भूमिका निभाती है। मातृभाषा के बिना सामाजिक निर्माण संभव नहीं है। ये सिद्धांत बंजारा भाषा पर भी लागू होते हैं। इसलिए मातृभाषा का संरक्षण समय की मांग है।

1961 की जनगणना के अनुसार भारत में 1652 मातृभाषाएं बोली जाती थीं। 2011 की जनगणना के अनुसार 1369 भाषाएं बोली जाती हैं। भारतीय लोकभाषा सर्वेक्षण के अनुसार, 780 मातृभाषाएं हैं, जिनमें से 197 संकटग्रस्त हैं। इनमें से 42 भाषाएं विलुप्त होने के कगार पर हैं। भाषाओं के विलुप्त होने और उनके अस्तित्व को खतरा होने के कई कारण हैं। लेकिन बंजारा एक ऐसी मातृभाषा है जो हर समय काल में भी बनी रही और हजारों साल के अपने इतिहास को संरक्षित करते हुए पलाश के फूल की तरह खिलती गयी। बंजारा भाषा को ब्रंज, ब्रिंजारी, बंजारी, गौरमाटी, लम्बानी भी कहा जाता है, लेकिन भारत में 'बंजारा' इसी नाम से अधिक जाना जाता है। यूरोपीय देशों में इसे 'रोमानी' के नाम से भी जाना जाता है। डॉ ग्रियर्सन के सर्वेक्षण में 'बंजारा' भाषा को 'भ्रमणशील बोली' के रूप में संदर्भित किया गया था। इसके अलावा, उसी सर्वेक्षण पर उनकी पुस्तक के भाग।। में पश्चिमी राजस्थान की 'गोरवाड़ी' बोली का भी उल्लेख आता है। डॉ. हीरालाल शुक्ल 'बंजारा' भाषा को 'इंडो-आर्यन' परिवार की भाषा कहते हैं, जबकि डॉ. उदय नारायण तिवारी और राहुल सांस्कृतियान ने बंजारा बोली को 'राजस्थानी बोली' कहा है। इतिहासकार बलिराम पाटिल की पुस्तक 'बंजारा क्षत्रियों का इतिहास' (1930) में भी बंजारा भाषा के दोहे आते हैं। भारतीय विविधता को समृद्ध करने वाली विभिन्न मातृभाषाओं में से बंजारा एक समृद्ध मातृभाषा के

रुप में नजर आती है। राजस्थानी, मेवाड़ी जैसी भाषाओं में प्रचलित कुछ शब्दों का बंजारा भाषा में प्रयोग होते हुए दिखायी देता है। कुछ भाषा विद्वान बंजारा भाषा को आर्य बोली के रुप में मानते है। भारतीय-आर्य परिवार की इन प्राचीन बोलियों का व्यापक रूप से उल्लेख किया गया है, इसलिए बंजारा भाषा के स्वतंत्र अस्तित्व और पुरातनता को नकारा नहीं जा सकता है। बंजारा एक प्राचीन मातृभाषा है जिसमें लिपि नहीं है, किंतु बहुमत के तौर पर ज्यादा आबादी के समुदाय की यह मातृभाषा जरूर है। बंजारा भाषा का आशियाई एवं यूरोपियन देशो से 10वीं शताब्दी के बाद से 'लदेनी' (ट्रेडिंग) के दौरान हुआ होगा। न केवल भारत में, बल्कि एशियाई और यूरोपीय महाद्वीपों की विभिन्न भाषाओं और संस्कृतियों से बंजारा भाषा का संपर्क होने से मातृभाषा के कुछ प्राकृत शब्द बंजारा की अन्य भाषाओं में प्रकट होते हैं, जबकि कुछ अन्य भाषाओं के शब्द बंजारा भाषा में भी दिखाई देते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बंजारा भाषा कोई विशिष्ट क्षेत्रीय बोली नहीं है बल्कि यह एक प्राचीन मातृभाषाओं में से विश्व के विभिन्न महाद्वीपों के संपर्क में आनेवाली एक वैश्विक बोली है। साथ ही, इस कारण बंजारा बोली ने भाषाई विविधता को समृद्ध करने में बहुत बड़ा योगदान दिया है। आधुनिक अंग्रेजी में ई-मेल शब्द का अर्थ मेल करना अपना, भेजना होता है। इसी तरह, 'ईमेल, देमेल' शब्द बंजारा भाषा में सैकड़ों वर्षों से प्रयोग होता प्रतीत होता है, जिसका अर्थ 'यहाँ रखना', 'वहां भेजना', ऐसा होता है। अंग्रेजी में 'मदर', या हिंदी में 'माँ' शब्द का प्रयोग होता है, मराठी में 'आई', संस्कृत में 'जननी' इस शब्द का बंजारा भाषा में एक स्वतंत्र शब्द है जिसे 'याडी' कहा जाता है। बंजारा भाषा में, ळ, च, छ, य, ये आदि व्यंजन संवादों में विशेष रूप से पाए जाते हैं। बंजारा भाषा विभिन्न अलंकारों और विशेषणों से सुशोभित है। वीर रस में उनकी अनेक रचनाएँ हैं जो आज भी बंजारा समाज के प्राचीन इतिहास को उजागर करती हैं।

"जात्या लढे खुटाये मुंगरी
फतिया लढे हाथीयार
बाजू म्हारो बनजारा यूं लढे
पुकार पडो देशेमं
बाजू म्हारो बनजारा यु लढे !"

(भावार्थ: विदेशी हथियारों के बावजूद, हमारे बंजारा वीरों ने हथौड़ों और लकड़ी को हथियार के रूप में इस्तेमाल करके मातृभूमि की रक्षा के लिए लड़ाई लड़ी।)

"लासरीया लव्हार बण
लोहेरी बंळालं ढाल
नेती नंघरीर लिनता लेन
आगासू भमतो चाल"

(भावार्थ: "मेरे बंजारावीर! आप एक सेना की तरह एक लोहे के आदमी हैं, इसलिए स्वयं को

एक लोहे की ढाल बनाएं। नम्रता से आकाश में ऊंची छलांग लगाएं।")

बंजारा भाषा में कई पारंपरिक संरचनाएं अभी भी पूर्वजों के इतिहास को रेखांकित करती हैं। बंजारा बोली के शब्द मराठी, हिंदी या किसी अन्य भाषा से स्वतंत्र शब्द हैं, किंतु कुछ शब्द राजस्थानी, मारवाडी बोली के समरूप हैं, जैसे - याडी (माँ), वीरा विरेना (भाई), भीरू (समर्थक), कळजो हिवडो (दिल), बेटी (बेटी), बेटा (बेटा), धोळो (श्वेत), मेरो, म्हारो (मेरा), तारो (तुम्हारा), आपनो (अपना), केसुला, ढाकडा (पलास का फूल), मुंडो मुखडो (चेहरा), गर्मी (गर्मी), सियालो (सर्दी), दादिसा (दादी), अंधारो (अंधेरा), वजाळो (प्रकाश), लाडो (कन्या), आपंळों मनक्या (अपना आदमी), खेत वावर (खेत)। ऐसे एकाधिक शब्दावली दी जा सकती है।

'वैश्विक नागरिक' की अवधारणा को बंजारा समुदाय द्वारा अपनाया गया था जिन्होंने एक ऐतिहासिक और स्वतंत्र संस्कृति का विकास किया। लाखा बंजारा (लखीशाह - बंजारा) ने बंजारा भाषा और संस्कृति को सात समुद्र पार एशियाई और साथ ही यूरोपीय देशों में प्रसारित करने का ऐतिहासिक काम किया है। लखीशाह बंजारा एशिया के सबसे महान व्यापारियों में से एक थे। दिल्ली में रायसीना, मालचा में उनकी एक बड़ी बस्ती थी। इसे लाखा बंजारा के विश्व व्यापार का सांस्कृतिक केंद्र भी माना जाता था। वर्तमान संसद भवन का स्थान कभी लखीशाह बंजारा का टांडा हुआ करता था। इसलिए उनके सम्मान हेतु संसद भवन परिसर में उनकी एक प्रतिमा स्थापित हो, ऐसी मांग भी कुछ सांसदों ने लोकसभा में रखी है। बंजारा भाषा के कुछ शब्द फ्रेंच, रोम, इटली, स्वीडन, जर्मनी, नेपाल, भूटान, सिंध, बलूचिस्तान की भाषाओं और संस्कृतियों के साथ-साथ स्थानीय भाषाओं और संस्कृतियों के संपर्क के कारण स्वाभाविक रूप से आए होंगे। इसके अलावा, बंजारा भाषा के कुछ शब्दों का इस्तेमाल अन्य क्षेत्रों की बोलियों में भी किया जा सकता है। इस ऐतिहासिक धरोहर को संजोकर रखने वाला संस्कृति प्रिय बंजारा समुदाय की मातृभाषा को भाषा के दर्जो से वंचित रखना उचित नहीं होगा, इस भाषा की कोई स्वतंत्र लिपि या पर्याप्त प्राचीन लिखित साहित्य नहीं है। लेकिन बंजारा भाषा अभी भी जीवित है। बंजारा समुदाय मुख्य रूप से भारत के अट्ठारह राज्यों में बसा हुआ है। महाराष्ट्र, कर्नाटक, तेलंगाना, आंध्र प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, गोवा, पंजाब, मध्य प्रदेश और अन्य राज्यों में बंजारा भाषा बोली जाती है। महाराष्ट्र, तेलंगाना, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, राजस्थान के अन्य भाषिक वक्ता भी इस मातृभाषा से कुछ परिचित हैं। यूरोपीय देशों में भी कुछ मिश्रित भाषा बोली जाती है। ‘‘बंजारा भाषा शोध संस्थान’’, नागपुर द्वारा 17 अगस्त 2003 में प्रथम राष्ट्रीय बंजारा साहित्य सम्मेलन और संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इस सम्मेलन में साहित्य अकादेमी द्वारा ‘‘भाषा सम्मान’’

पुरस्कार से सम्मानित साहित्यिक डॉ. रामचन्दर रमेश आर्य की अध्यक्षता में एक संकल्प पारित किया गया और भारत सरकार से यह अनुरोध किया गया कि भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में बंजारा भाषा को शामिल किया जाए। इस सम्मेलन में पूर्व सांसद श्री हरिभाऊ राठौर भी उपस्थित थे जिन्होंने संसद में पहली बार बंजारा भाषा को आठवीं अनुसूची में शामिल करने के लिए आवाज़ उठाई और देश की धरोहर बंजारा भाषा के संरक्षण और विकास के लिए सरकार द्वारा अकादेमियों की स्थापना की जाए। इसके साथ साथ बंजारा साहित्यकारों को सम्मानित भी किया जाए। यह एक प्राचीन भाषा है इसलिए इसका संरक्षण करना आवश्यक है। संविधान की अनुसूची में बंजारा भाषा को शामिल करने की मांग भूतपूर्व सांसद राजीव सातव, वर्तमान सांसद डॉ. उमेश जाधव, सांसद सुरेश धानोरकर और अन्य मान्यवरों ने भी की है। वर्ष 2012 में भारत सरकार की साहित्य अकादेमी द्वारा बेंगलुरु में "बंजारा भाषा सम्मेलन" का आयोजन किया गया जिसमें भी देश के विभिन्न क्षेत्रों से उपस्थित हुए विद्वानों ने बंजारा भाषा को आठवीं अनुसूची में शामिल कर संरक्षित करने और बंजारा भाषा के लेखकों को सम्मानित करने के लिए संकल्प पारित किया गया। यह भी निर्णय लिया गया कि अखिल भारतीय स्तर पर देवनागरि लिपि में बंजारा भाषा को लिखा जाए। इस अवसर पर मराठी साहित्यकार श्री लक्ष्मण गायकवाड भी उपस्थित थे। देवनागरि लिपि के माध्यम से महाराष्ट्र राज्य की मराठी पाठ्यपुस्तक में पहली बार बंजारा भाषा से वीरा राठौड़ (औरंगाबाद) की एक कविता का अनुवाद भी प्रकाशित हुआ। वहीं महाराष्ट्र के तत्कालीन शिक्षा मंत्री विनोद तावड़े के कार्यकाल में दसवीं कक्षा की बोर्ड परीक्षा में बंजारा भाषा में अनुवाद पूछा गया था। तेलंगाना विधानसभा में विधायक रेखा नाइक ने बंजारा भाषा में सवाल किए। इसके अलावा, साहित्यकार एकनाथ पवार ने राष्ट्रीय टांडा विकास बोर्ड और बंजारा भाषा के लिए जागरूकता पैदा करने के लिए राज्य में एक हस्ताक्षर अभियान शुरू किया। पूर्व मंत्री संजय सिंह राठौर ने पहल की। महाराष्ट्र राज्य सरकार ने यह भी सिफारिश की कि बंजारा बोली को एक भाषा का दर्जा दिया जाए। ऑल इंडिया बंजारा सेवा संघ और विभिन्न बंजारा साहित्य सम्मेलनों द्वारा बंजारा भाषा के विकास के लिए प्रयास किया जा रहा है।

प्रख्यात साहित्यकार भारतेंदु हरिश्चंद्र के अनुसार, "मेरी भाषा प्रगति है। यह सभी भाषाओं की प्रगति की जड़ है। मेरी मातृभाषा के ज्ञान के बिना मन की शांति नहीं है।" यह कथन बंजारा के साथ हर मातृभाषा पर लागू होता है। चूँकि किसी बोली की कोई अलग लिपि नहीं होती, इसलिए उस मातृभाषा के इतिहास और अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। सभी को अपनी मातृभाषा पर गर्व होना चाहिए। क्योंकि मातृभाषा एकमात्र शाश्वत पहचान है, जो हमारे पूर्वजों के इतिहास को संरक्षित करती है। लेकिन साथ ही,

भाषाई घृणा को स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। इस बात का भी ध्यान रखना उतना ही जरूरी है कि, भाषा भेदभाव न करे। खास बात यह है कि बंजारा भाषा में भाषाई घृणा कहीं दिखाई नहीं देती। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि, बंजारा भाषा एक गरिमा है, जो 'सेन साई वेस' (सबका कल्याण हो, मंगल हो।) की धारणा पर आधारित है इस धारणा के साथ-साथ यह वैश्विक नागरिकता की भावना को भी प्रज्जवलित करती है। इसलिए इस मातृभाषा का संरक्षण समय की मांग है। नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति में मातृभाषा शिक्षा पर अधिक जोर दिया गया है। जो बेहद सराहनीय है। भारत में विभिन्न बोलियों के संरक्षण और विकास पर एक दूरगामी कार्रवाई कार्यक्रम की उम्मीद भी अब जाग उठी है।

बंजारा भाषी जब मिलते हैं तब भी अपनी मातृभाषा में संवाद करते हैं। फिर चाहे वह कितना भी बड़ा इंसान क्यों न हो या वह व्यक्ति किसी अन्य समारोह कार्यक्रम में में क्यों न हो, लेकिन 'आपंणौ मनक्या' की भावना से वे बंजारा भाषा में संवाद करते हैं। आधुनिक महाराष्ट्र के शिल्पकार और हरित क्रांति के जनक, पूर्व मुख्यमंत्री वसंतराव नाइक के संदर्भ में औरंगाबाद हवाई अड्डे पर ऐसी ही एक दिल को छुनेवाली, मातृभाषा की गरिमा दर्शानेवाली घटना याद दिलाती है।

डॉ. डी.वी. नायक, उप कुलपति, कर्नाटक जानपद विश्वविद्यालय, प्रो. खंडोबा और डॉ. गणेश देवी (कर्नाटक), जयपाल सिंह राठौड़ (राजस्थान), डॉ. हरलाल पवार-नाइक (धारवाड़), डॉ. गोवर्धन जाधव (गुजरात) , इंदलसिंह जाधव, (उत्तरप्रदेश), डॉ. वी. रामकोटि पवार (तेलंगाना), डी. रामा नाइक (कर्नाटक) और महाराष्ट्र के एक महान समाज सुधारक बलीराम पटेल, भाषा सम्मान' पुरस्कार से सम्मानित दीवंगत मोतीराज राठौड़ और कई अन्य साहित्यकारों ने बंजारा भाषा पर प्रकाश डाला है। बंजारा भाषा को संजोकर रखने में हर बंजारन ने अहम योगदान दिया है। इसके अलावा, टांडा शहर से बंजारा भाषा में आज हजारों भजन, गीत, लेंगी और अन्य कला और साहित्य की रचना करने वाले सैकड़ों अज्ञात कलाकारों ने अहम भूमिका निभाई।

बंजारा भाषा के विभिन्न रूप हैं। जैसे 'ढावलो', 'लेंगी गीत', 'झमरका', 'कसळात', 'पेलोविधान', 'हिंदोलो' झुलागीत, 'घूमर' नृत्य गीत, 'तीज' गीत, 'दिवलो' गीत, 'साकी' जैसे बेहद अलग रुप हैं। इस भाषा में जितनी मिठास है उतनी ही वीरता और सहजता भी प्रतीत होती है। 'बंजारा भाषा यह सहिष्णुता की मातृभाषा है, जो वैश्विक नागरिकता के चौदह स्तंभों का संदेश देती है जिसने किसी भी तरह की नफरत को छुआ तक नहीं है। वह प्रकृति के आलिंगन में है, जो प्रकृति की बोली है। पृथ्वी, आकाश, चंद्रमा, सितारों, जानवरों और पक्षियों, नदियों, झरनों, पेड़ों और घाटियों के साथ संवाद करती है। संचार करती है, जल-जंगल-भूमि की रक्षा के

लिए पूजा की एक रचनात्मक मातृभाषा है जो आपको संकल्प लेने के लिए प्रेरित करती है। जिसमें एक विशिष्टता, क्षात्रतेज, और करुणा होती है। इसलिए इस भाषा का अध्ययन, शोध और संजोने का काम करना बहुत महत्वपूर्ण है। आज तकनीक की सहायता से बंजारा भाषा में विभिन्न अनुप्रयोग करने की आवश्यकता है।

बंजारा भाषा के विकास के लिए वर्तमान में कर्नाटक टांडा विकास निगम, बेंगलुरु द्वारा सराहनीय प्रयास किया जा रहा है। निगम द्वारा भाषा के संरक्षण और विकास के लिए विभिन्न योजनाएं चलाई जा रही हैं। गुलबर्गा विश्वविद्यालय में बंजारा संत सेवालाल महाराज के नाम पर पीठ की स्थापना की गई है जिसमें बंजारा संतों पर अध्ययन किया जा रहा है। कर्नाटक विश्वविद्यालय में बंजारा/लंबानी शब्दकोष का निर्माण भी किया जा रहा है।

बंजारा समाज की असली पहचान उसकी मातृभाषा है, जो एकता की एक शाश्वत नीव है। आज विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं पर अधिक कार्य होना जरूरी है। विभिन्न बोलियों के संरक्षण और विकास पर दूरगामी नीतियां बनाना आवश्यक प्रतीत होता है। आज सैकड़ों बोलियाँ लुप्त हो रही हैं। इन क्षेत्रीय भाषाओं में सैकड़ों बोलियों के शामिल होने से कई बोलियों का इतिहास, उनके पूर्व-व्यापार कौशल और उनकी विशेषताएँ खो गई है। कई बोलियाँ आज विलुप्त होने के कगार पर हैं। बंजारा भाषा एक प्राचीन भाषा है जो कई संकटों और संघर्षों में लंबे समय तक जीवित रही है। ऐतिहासिक सभ्यता की विरासत और विविधता को संरक्षित करने के लिए नई पीढ़ी को अपनी मायड भाषा (मातृभाषा) को संजोकर रखना होगा। बंजारा भाषा की सुंदरता, विशेषता और उदारता को देखकर इसकी महिमा शब्दों में प्रस्फुटित होती है। बंजारा भाषा पलाश के फूलों की तरह धूप में भी खिलने वाली भाषा है जो चाँद और सूरज की तरह अमर और जान की तरह प्रिय है।

सोरठा

रहिमन मोहि न सुहाय, अमी पिआवै मान बिनु।
बरु विष देय, बुलाय, मान सहित मरिबो भलो॥

अर्थ - रहीम जी कहते हैं कि यदि कोई मेरे आत्मसम्मान को ठेस पहुँचाकर अमृत पिलाए तो वह मुझे स्वीकार नहीं है, जबकि प्रेम और सम्मान के साथ यदि कोई जहर भी प्रस्तुत करे तो मुझे उसे पीकर मर जाना अच्छा लगेगा। इसलिए व्यक्ति को आत्मसम्मान की रक्षा करनी चाहिए। यदि किसी व्यक्ति से उसका आत्मसम्मान छीन लिया जाए तो उसके जीवन में कुछ नहीं बचता। इसी आत्मसम्मान की रक्षा के लिए राष्ट्रों तक ने युद्ध लड़े हैं। बहुत से लोगों ने निजी आत्मसम्मान की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति दी है। इसके बिना जीवन की कल्पना ही क्या? और यह मिल जाए तो फिर और जीने की कामना भी छोड़ी जा सकती है। सामाजिक संबंधों की सार्थकता प्रेम में ही है। जहाँ प्रेम है, वहाँ व्यक्ति के सम्मान की रक्षा भी होती है। दुनिया की सभी चीजें (जैसे धन-दौलत, पद आदि) आज हैं, कल नहीं भी हो सकती और यदि आज नहीं हैं तो कल प्राप्त की जा सकती हैं, पर व्यक्ति अपने सम्मान को खोकर पुनः उसे प्राप्त नहीं कर सकता।

भारतीय त्योहारों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

सीताराम गुप्ता
सेवानिवृत्त शिक्षक,
ए.डी 106-सी पीतमपुरा, दिल्ली

हमारा देश विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों का केंद्र है। विभिन्न धर्मों और संप्रदायों के तीज-तीज-त्योहार मिल-जुल कर मनाने की प्रथा देश में रही है लेकिन कोई पर्व वास्तव में कब मनाया मनाया जाता है इस विषय में हम कई बार अपेक्षाकृत कम और कभी-कभी नगण्य या ग़लत जानकारी रखते हैं। हम होली-दीपावली, ईद-मुहर्रम, रामनवमी, गुरुपर्व, बुद्ध् जयंती, महावीर जयंती, ईदे-मीलादुन्नबी, सिंधी नववर्ष चेटी चंड अथवा पारसी नववर्ष नौरोज़ किस दिन मनाते हैं इसके सही उत्तर की अपेक्षा कम ही की जाती है और इसका कारण है अपने देश के विभिन्न मतों और धर्मों के पर्वों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की जानकारी का अभाव। आजकल हम सारा कार्य अंग्रेज़ी महीनों के अनुसार ही करते हैं।

इसीलिए सभी त्योहारों को भी अंग्रेज़ी महीनों अर्थात् ग्रिगेरियन कैलेंडर के साथ जोड़ कर देखने की प्रवृति हममें पैदा हो गई है। आमतौर पर लिखा या कहा जाता है कि दीपावली दीपावली नवम्बर के महीने में मनाई जाती है, जो अत्यंत भ्रामक है। दीपावली वैसे तो अक्तूबर या नवम्बर महीने में ही पड़ती है लेकिन इन अंग्रेज़ी महीनों से वास्तव में दीपावली मनाने का कोई संबंध नहीं है। दीपावली मनाने का जो दिन निश्चित है, वह है कार्तिक मास की अमावस्या। इस्लामी और ईरानी पर्वों के विषय में तो यह जानकारी और भी कम है। बहुत से ऐसे लोग मिल जाएँगे जिन्हें सारे भारतीय महीनों के नाम भी पता नहीं होंगे। हमारा जन्म किस भारतीय महीने की कौन सी तिथि को हुआ था, ये भी हममें से कम लोगों को ही पता होगा।

इस जानकारी के अभाव का कारण है पाश्चात्य संस्कृति का हम पर अत्यधिक प्रभाव होना। हम बच्चों को प्रारंभ से ही अंग्रेजी के महीने और अंग्रेजी में सप्ताह के दिनों के नाम रटवाने शुरू कर देते हैं लेकिन उन्हें भारतीय महीनों व हिंदी में सप्ताह के दिनों के नाम बतलाना व याद करवाना महत्त्वपूर्ण नहीं समझते। आज अंग्रेजी महीनों की जानकारी अनिवार्य है क्योंकि इनकी जानकारी के बिना काम नहीं चल सकता, लेकिन भारतीय त्योहार कब मनाए जाते हैं, इसकी सही-सही जानकारी के लिए भारतीय महीनों के नामों की जानकारी भी अपेक्षित है क्योंकि हिंदुओं के सभी पर्व इन्हीं के अनुसार मनाए जाते हैं। यदि हम चाहें तो त्योहारों से जोड़कर धीरे धीरे सभी भारतीय महीनों की जानकारी बच्चों को करा सकते हैं।

ये पाश्चात्य प्रभाव ही है जिसके कारण अपना जन्मदिन अंग्रेज़ी तारीख़ और महीनों, अर्थात् ग्रिगेरियन कैलेंडर के अनुसार मनाने लगे हैं। इसी का अनुसरण करते हुए हम अपना स्वतंत्रता दिवस अथवा गणतंत्र दिवस प्रति वर्ष 15 अगस्त तथा 26 जनवरी को मनाते हैं। गाँधी जयन्ती भी प्रति वर्ष 2 अक्तूबर को मनाई जाती है तथा नेहरू जी का जन्म दिवस बाल दिवस के रूप में 14 नवम्बर को ही मनाया जाता है। लेकिन होली, दीपावली, रक्षाबंधन, विजयदशमी अथवा श्रीकृष्ण जन्माष्टमी या बाल्मीकि जयंती मनाने की कोई भी अंग्रेज़ी तारीख़ निश्चित नहीं है। अतः हर साल ये पर्व अलग-अलग अंग्रेज़ी तारीख़ को पड़ते हैं इसका कारण यह है कि हिंदुओं के सभी पर्व हिन्दु कैलेण्डर अर्थात् विक्रम संवत्सर के अनुसार ही मनाए जाते हैं जिसमें चैत्र से लेकर फाल्गुन तक बारह महीने ही होते हैं।

प्रचलित अंग्रेज़ी महीने जहाँ सूर्य वर्ष या सौर वर्ष अथवा सोलर ईयर, अर्थात् 365 दिन और लगभग छह घंटे को बारह भागों में विभाजित करके बनाए गए हैं वही भारतीय महीने, हिन्दु कैलेण्डर, चाँद की एक परिक्रमा, जो लगभग साढ़े उनतीस दिन में पूर्ण होती है, पर आधारित हैं। प्रत्येक महीने को दो भागों में बाँटा गया है। मास का पहला भाग कृष्ण पक्ष तथा दूसरा भाग शुक्ल पक्ष कहलाता है। कृष्ण पक्ष के पन्द्रह दिनों बाद अमावस्या तथा शुक्ल पक्ष के पन्द्रह दिनों बाद पूर्णिमा आती है। इसी वर्गीकरण वर्गीकरण के आधार पर हिन्दुओं के सभी त्योहार व अन्य प्रमुख दिवस मनाए जाते हैं। हाँ, मकर संक्रांति एक ऐसा पर्व है जो हिन्दू कैलेण्डर अथवा भारतीय महीनों के अनुसार नहीं मनाया जाता। वैसे तो संक्राति हर महीने आती है लेकिन मकर संक्राति हर साल प्रायः चौदह जनवरी को ही पड़ती है। इसी प्रकार से पंजाब में मनाया जाने वाला वैसाखी का पर्व भी प्रतिवर्ष प्रायः तेरह या चौदह अप्रैल को मनाया जाता है।

जैसे श्रावण मास की पूर्णिमा को रक्षाबंधन, भाद्रपद मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी को भगवान श्रीकृष्ण जन्मोत्सव, आश्विन मास के शुक्ल पक्ष की दसवीं को दशहरा, कार्तिक मास की अमावस्या को दीपावली तथा फाल्गुन पूर्णिमा को होली मनाई जाती है। इन त्योहारों को मनाने की अंग्रेज़ी तारीख़ तो क्या, महीना भी निश्चित नहीं होता। दीपावली कभी अक्तूबर में, तो कभी नवम्बर में, तथा होली किसी वर्ष मार्च के प्रारम्भ प्रारम्भ में, तो कभी एकदम अंत में पड़ती है। यदि हम भगवान राम अथवा गुरु नानक देव जी के जन्म की बात करें तो उनका जन्म भारतीय महीनों के अनुसार ही मनाया जाता है। भगवान राम का जन्म चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की नवमी को मनाया जाता है, जिसे रामनवमी भी कहा जाता है। इसी प्रकार गुरु नानकदेव जी का जन्म कार्तिक मास की पूर्णिमा को मनाया जाता है, जो जो दीपावली के एक पक्ष अर्थात् चौदह अथवा पंद्रह दिन बाद आता है।

हाँ, ईसाइयों के सभी त्योहार अंग्रेज़ी महीनों तथा तिथियों के अनुसार ही मनाए जाते हैं लेकिन इस्लामी पर्व इस्लामी या अरबी महीनों के हिसाब से ही मनाए जाते हैं। अरबी महीने भी संख्या में बारह हैं लेकिन, चूंकि अरबी महीने भी चंद्र मास या ल्यूनर मंथ पर आधारित हैं, इसलिए साढ़े उन्तीस दिन के हिसाब से अरबी साल 354 दिन का बैठता है। इसीलिए एक अरबी अरबी महीना तीस दिन का रहता है तो दूसरा उन्तीस दिन का। चूंकि अरबी साल 354 दिन का का होता है, इसलिए यह अंग्रेज़ी साल अर्थात् ग्रिगेरियन कैलेंडर से लगभग ग्यारह दिन छोटा रह जाता है। इसीलिए ईद-उल-फितर या दूसरे पर्व पर्व अंग्रेज़ी महीने के हिसाब से हर अगले साल लगभग ग्यारह दिन पहले ही आ जाते हैं।

इस साल यदि कोई इस्लामी पर्व गर्मियों में में मनाया जा रहा है तो आठ-दस साल बाद यही पर्व अवश्य ही सर्दियों में मनाया जाएगा। अंग्रेज़ी महीनों अथवा ग्रिगेरियन कैलेंडर के हिसाब से इस्लामी पर्व चाहे किसी महीने या किसी दिन पड़ें, पड़ें, लेकिन ईद-उल-फितर हमेशा रमज़ान के पूरे महीने रोज़े रखने के बाद शव्वाल महीने की पहली तारीख़ को ही मनाई जाती है। ईद-उल-अज्हा हमेशा ज़िल्हिज्जा महीने की दसवीं तारीख़ को पड़ती है तथा मुहर्रम या यौमे-आशूरा मुहर्रम मास की दसवीं तारीख़ को पड़ती है। मुहर्रम एक महीने का नाम है जो अरबी साल का पहला महीना है। हर इस्लामी पर्व से पहले प्रायः ईद शब्द लगाया जाता है, जैसे ईद-उल-फितर, ईद-उल-अज्हा अथवा ईद-ए-मिलादुन्नबी आदि, लेकिन लेकिन मुहर्रम से पहले ईद नहीं लगाया जाता क्योंकि ये त्योहार अथवा ख़ुशी का दिन नहीं अपितु मातम मनाने का दिन है।

हज़रत मुहम्मद (सल्लि0) का जन्म दिन ईद-ए-मिलादुन्नबी सदैव रबी-उल-अव्वल महीने की बारहवीं तारीख़ को मनाया जाता है। चूंकि अरबी महीनों पर आधारित हिजरी या इस्लामी संवत्सर ग्रिगेरियन कैलेंडर के अनुसार ईसवी संवत्सर से लगभग ग्यारह दिन कम का होता है, अतः बत्तीस ईसवी सन लगभग तेंतीस हिजरी वर्षों के बराबर बैठते हैं। इस प्रकार एक ईसवी शताब्दी में जहाँ कोई भी त्योहार एक सौ बार मनाया जाता है, वहाँ इसी दौरान सभी इस्लामी पर्व कम से कम एक सौ तीन बार मनाये जाते हैं। एक अजीब संयोग ये भी होता है कि जिस वर्ष ईद-उल-फितर का त्योहार दीपावली वाले महीने में पड़ जाता है, वह प्रायः दीपावली के दो दिन बाद अथवा गोवर्धन पूजा वाले दिन आता है।

जिस प्रकार हिंदू और मुसलमान अपने-अपने धार्मिक पर्व विक्रम संवत्सर तथा हिजरी सन के अनुसार मनाते हैं, उसी तरह पारसी भी अपने पर्व ईरानी महीनों के अनुसार ही मनाते हैं। नौरोज़ या नवरोज़ पारसी साल के नये दिन के रूप में मनाया जाता है। ईरानी साल का प्रारंभ तब होता है जब सूर्य मेष राशि में प्रकट होता है। इसलिए ईरानी साल 21 मार्च को प्रारंभ

होता है और ईदे-नौरोज़ या नौरोज़ का त्योहार ईरानी महीनों के अनुसार पहले महीने फर्वरदीन की पहली तारीख़ को मनाया जाता है। ईरानी महीने भी अंग्रेज़ी महीनों की तरह सूर्य वर्ष, अर्थात् सोलर ईयर पर आधारित हैं। इसलिए ईरानी साल हर वर्ष 21 मार्च को ही प्रारंभ होता है।

सिंधी नववर्ष जिसे चेटीचंड कहते हैं, वह विक्रम संवत्सर के प्रथम मास चैत्र के शुक्ल पक्ष की द्वितीय तिथि को मनाया जाता है जबकि विक्रम संवत्सर चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की पहली पहली तिथि, अर्थात् पहले नवरात्र को प्रारंभ हो जाता है। सिंधी नववर्ष अथवा चेटीचंड को विक्रम संवत्सर के प्रथम मास चैत्र के शुक्ल पक्ष की द्वितीय तिथि को मनाने का एक कारण ये भी हो सकता है कि इस दिन सिंधी समुदाय के इष्टदेव झूलेलाल का जन्मदिवस होता है। भगवान राम का जन्मोत्सव, अर्थात् रामनवमी भी इसी चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की नवमी को मनाई जाती है। चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी को भगवान महावीर का जन्मदिन मनाया जाता है, तो वैशाख मास की पूर्णिमा को भगवान बुद्ध का जन्म दिन मनाया जाता है जिसे बुद्ध पूर्णिमा कहते हैं।

वैसे तो विक्रम संवत्सर भी चंद्र मास पर आधारित होता है और हिजरी सन की तरह इसमें भी सूर्य वर्ष से कम दिन होते हैं लेकिन हर हर दो वर्ष व सात या आठ महीनों के बाद एक महीना बढ़ा कर इसकी पूर्ति कर ली जाती है। इस प्रकार बढ़ाए गये महीने को अधिमास या लीप मंथ कहा जाता है। विक्रम संवत्सर में लीप ईयर तेरह मास का होता है। जब किसी साल कोई महीना दो बार आता है तो उस महीने मनाए जाने वाले सभी पर्व पहले महीने में ही मनाए जाने का विधान है, अधिमास में नहीं। भारत में मनाए जाने वाले पर्वों की इस पृष्ठभूमि को जानना न केवल अनिवार्य है अपितु अत्यंत रोचक भी है और सबसे विचित्र बात तो ये है कि जिस कैलेंडर के अनुसार किसी धर्म का कोई पर्व नहीं मनाया जाता, वो है हमारा राष्ट्रीय कैलेंडर अर्थात् शक् संवत्सर।

****

आलोचनाओं का जवाब

अमेरिका के सर्वाधिक लोकप्रिय राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन के विषय में उनके विरोधी प्रायः कुछ न कुछ अखबारों में प्रकाशित करवाते रहते थे किंतु लिंकन कभी उनका प्रत्युत्तर नहीं देते थे। एक दिन उनके एक मित्र ने कहा, “आपके विरोधी इतना कुछ आपके बारे में लिखते हैं। आप उनका जवाब क्यों नहीं देते? आपको भी जवाब देना चाहिए।” लिंकन ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया, “मित्र! यदि मैं उनका जवाब देने लगूंगा तो मेरा सारा समय इसी में निकल जायेगा। फिर मैं कोई जनकल्याण का कार्य नहीं कर पाऊंगा। जीवन के अंत में यदि मैं अपने कार्यों के द्वारा बुरा साबित होता हूँ तो मेरे द्वारा दी गयी किसी सफाई का कोई मूल्य नहीं होगा। यदि मैं एक अच्छा व्यक्ति साबित होता हूँ तो फिर इन आलोचनाओं का कोई मूल्य नहीं होगा। इसलिए मैं इन पर ध्यान दिए बिना चुपचाप अपना काम करता हूँ।”

सीख:- यह ‘प्रसंग हमें सिखाता है कि हमें लोगों की आलोचनाओं का जवाब आलोचना से न देकर अपने अच्छे कार्यों के द्वारा देना चाहिए।

भारतीय संस्कृति की धरोहर : यौगिक जीवन शैली

समीर उपाध्याय 'ललित'
उपाध्याय, श्री म्युनिसिपल हाईस्कूल,
थानगढ़, जिला: सुरेंद्रनगर (गुजरात)

आज की भागदौड़ भरी और व्यस्त जीवनशैली के कारण अधिकांश लोग मानसिक तनाव से पीड़ित होने लगे हैं। यंत्र पर आधारित मनुष्य जीवन ने मनुष्य को भी यांत्रिक बना दिया है। पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण, भौतिक वस्तुओं के प्रति अतिमोह, जीवन में संवेदना और संबंधों से अधिक रुपयों का महत्व, इलेक्ट्रॉनिक वस्तुओं का अत्यधिक उपयोग, शहर में जाकर बसने की लोगों में बढ़ रही लालसा, लक्ष्य-प्राप्ति के मार्ग में आने वाले अवरोध, अपने कार्यक्षेत्र में बार बार मिलती असफलताएँ, स्पर्धात्मक जीवन-शैली, अनगिनत अपेक्षाएँ आदि मानसिक तनाव के मुख्य कारण है। आज के समय में मानसिक तनाव व्यक्ति के जीवन का एक हिस्सा बन गया हैं। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति मिलेगा जो मानसिक तनाव से पीड़ित ना हुआ हो।

मानसिक तनाव अर्थात् हताशा और संघर्ष की एक ऐसी परिस्थिति जो व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक शक्ति के ऊपर विपरीत असर डालती है। मानसिक तनाव अर्थात् चिंता, हताशा, मायूसी, घबराहट, बेचैनी और उन्माद की एक ऐसी स्थिति है जो व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक संतुलन पर घातक असर करती है। व्यक्ति जब निरंतर मानसिक तनाव का अनुभव करता है और उससे लड़ने की उसमें शक्ति का अभाव होता है, तब वह आत्महत्या के मार्ग को भी अपना लेता है।

वर्तमान युग परिवर्तन का युग है। तीव्र गति से होने वाले परिवर्तन के युग में ख़ुद को बदल कर परिवर्तन के साथ सायुज्य स्थापित करना कोई सरल काम नहीं है। पारिवारिक, व्यावसायिक, सामाजिक, राजकीय और भौगोलिक परिवर्तन व्यक्ति में मानसिक तनाव पैदा करते हैं।

व्यक्ति अपने जीवन में आने वाले छोटे छोटे परिवर्तनों को स्वीकार कर लेता है, लेकिन अचानक पैदा होने वाली किसी आघात जनक परिस्थिति या घटना को स्वीकार करना उसके लिए बहुत मुश्किल होता है। जैसे की भूचाल की घटना के बाद व्यक्ति बार बार उसकी भयानकता को महसूस करे, भूचाल के विचार मात्र से डरने लगे, रात के समय नींद ना आए, डरावने सपने आएं, ये सारी नकारात्मक मानसिक परिस्थितियाँ मानसिक तनाव के कारण ही पैदा होती हैं।

कभी कभी जीवन में अकस्मात् घटित होने वाली घटनाएँ भी व्यक्ति में मानसिक तनाव पैदा करती हैं। जैसे कि परिवार में किसी सदस्य की अचानक मृत्यु होना, शादी के बाद तुरंत

वैवाहिक जीवन में तनाव पैदा होना, पति-पत्नी का अलग हो जाना, तलाक लेना, कार्यस्थल पर अधिकारी द्वारा कर्मचारी को परेशान करना, जीवन में पैसों की तंगी महसूस करना, धंधे में बार बार नुकसान आना, इच्छित लक्ष्य की प्राप्ति न होना और व्यक्ति के साथ अपनों के द्वारा विश्वासघात होना इत्यादि परिस्थितियों के कारण भी व्यक्ति मानसिक तनाव का शिकार बनता है।

रोज ब रोज के जीवन में आने वाली मुश्किलें भी कभी कभी मानसिक तनाव पैदा करती हैं। नौकरी करती महिला को घर के कामकाज की जिम्मेदारी बच्चों की देखभाल, उनका शिक्षण, ऑफिस का काम, समय पर आना-जाना, नौकरी के स्थल पर आने-जाने में तकलीफें होना, परीक्षा देने जा रहे विद्यार्थी का बीच में ट्रैफिक में फंस जाना, परीक्षा का डर लगना इत्यादि परिस्थितियाँ मानसिक तनाव पैदा करती हैं। इन तनावभरी परिस्थितियों से निम्नलिखित उपाय अपना कर निजात मिल सकती है:-

(1) सात्विक आहार: कभी कभी मानसिक तनाव शरीर में रासायनिक असंतुलन के कारण पैदा होता है। आजकल के फैशन के जमाने में लोग अपने आहार की परंपरागत थाली को भूल गए हैं। होटलों में फास्ट फूड खाने का फैशन चल पड़ा है। फास्ट फूड में कई तरह के केमिकल्स और प्रिजर्वेटिव होते हैं जो शरीर में धीरे धीरे जहर फैलाने का काम करते हैं। ऐसा आहार लेने से भी शरीर में रासायनिक परिवर्तन होता है और मानसिक तनाव पैदा होता है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि फास्ट फूड को छोड़कर अपने स्वदेशी परंपरागत और सात्विक आहार को अपनाएं। ऐसा सात्विक आहार लेना चाहिए जिससे शरीर के लिए जरूरी सभी प्रकार के मिनरल्स, प्रोटीन्स, विटामिन्स और केमिकल्स पूरी मात्रा में मिलें। ऋतुओं के अनुसार ताजा और हल्का आहार लेना चाहिए।

(2) व्यायाम: नियमित व्यायाम करना भी मानसिक स्वास्थ्य के लिए बहुत ही उपयोगी है। व्यायाम करने से शरीर में रक्त का परिभ्रमण होता है। दिमाग को पूरी मात्रा में रक्त और प्राणवायु प्राप्त होती है। इससे कार्यक्षमता बढ़ती है। शरीर के स्नायु तनावमुक्त होते हैं। रक्त के परिभ्रमण से रक्त में इकट्ठा हुआ कचरा बाहर निकल जाता है। एंडोफ्रिन का प्रमाण रक्त में बढ़ने से मन प्रसन्नता का भाव महसूस करता है। हर एक व्यक्ति को रोजाना कम से कम 40 मिनट तक व्यायाम करना चाहिए।

(3) ध्यान-योग: आज अधिकांश लोग आधुनिक जीवन शैली के कारण ही तनाव में जी रहे हैं। मानसिक स्वास्थ्य के लिए भारत की पूरे विश्व को दी गई ध्यान-योग पद्धति का सभी को उपयोग करना चाहिए। महर्षि पतंजलि ने 'योगसूत्र' में इसकी व्याख्या दी है।

'योग' शब्द संस्कृत 'युज' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है जुड़ना। जीव का शिव के साथ या आत्मा का परमात्मा के साथ जुड़ना अर्थात् योग।

महर्षि पतंजलि ने योग के आठ अंग बताए हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

*यम अर्थात् नकारात्मकता से दूर रहना। इसमें सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का समावेश किया जाता है। सत्य अर्थात् झूठ न बोलना। अहिंसा अर्थात् मन, वचन और कर्म से किसी के दिल को न दुखाना। अस्तेय अर्थात् शारीरिक और मानसिक रूप से शुद्ध आचरण करना और अपरिग्रह अर्थात् ज़रूरत से ज्यादा चीजों का संग्रह न करना।

*नियम अर्थात् सकारात्मक बनना। इसमें शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान का समावेश किया जाता है। शौच अर्थात् शरीर की आंतरिक और बाह्य शुद्धि। संतोष अर्थात् जो मिला है वह काफ़ी है का भाव। तप अर्थात् शरीर को कुछ प्रकार के कार्यों को करने के लिए सक्षम बनाना। स्वाध्याय अर्थात् 'स्व' का अभ्यास करना। ईश्वरप्रणिधान अर्थात् ख़ुद को ईश्वर के चरणों में समर्पित कर देना।

*आसन अर्थात् शरीर और मन को स्थिर करने वाली विशिष्ट प्रकार की शारीरिक स्थिति। आसन करने से स्नायु तनाव मुक्त होते हैं। शरीर स्वस्थ और मन प्रसन्न रहता है। अनुभवी व्यक्ति के मार्गदर्शन में आसनों का अभ्यास करना चाहिए।

*प्राणायाम अर्थात् श्वासोच्छ्वास की निश्चित प्रक्रिया। प्राणायाम से स्वयं संचालित चेतनातंत्र और मन को नियंत्रित किया जा सकता है। प्राणायाम के अनेक प्रकार हैं जिनका अनुभवी व्यक्ति के मार्गदर्शन में अभ्यास करना चाहिए।

*प्रत्याहार अर्थात् बाह्य और आंतरिक उद्दीपकों की ओर से मन को हटाना।

*धारणा अर्थात् मन की स्थिरता। धारणा में व्यक्ति को अपने मन को शांत कर निरंतर लंबे समय तक किसी एक वस्तु या विषय पर ध्यान को केंद्रित करने का प्रयत्न करना होता है। ध्यान की शुरुआत की अवस्था को ही धारणा कहते हैं।

*ध्यान अर्थात् किसी एक वस्तु के प्रति चित्त को केंद्रित करना। इस केंद्रीकरण के कारण धीरे धीरे ध्यान जिस वस्तु पर केंद्रित किया गया है उस वस्तु और ध्यान करने वाले व्यक्ति के बीच एक होने का भाव पैदा होता है।

*समाधि अर्थात् ध्यान करने वालों और ध्यान के उद्दीपक, दोनों का एकीकरण। जहां सारे क्लेश समाप्त हो जाते हैं और मन एकदम शांत

हो जाता है उस अवस्था को समाधि कहते हैं। यह ध्यान की सर्वोच्च अवस्था है। इस अवस्था में व्यक्ति को समस्त ब्रह्मांड की एकता, सर्वव्यापकता, परम शांति और परमानंद का अनुभव होता है। भारतीय दर्शन शास्त्र के अनुसार ध्यान की इस चरम सीमा से प्राप्त होने वाला परमानंद विश्व के तमाम प्रकार के आनंदों में श्रेष्ठतम और उच्चतम आनंद है और इस आनंद का अनुभव करना ही मानव जीवन का परम लक्ष्य है।

'श्रीमद् भगवद् गीता' के दूसरे अध्याय में योग की परिभाषा देते हुए कहा गया है- "समत्वम् योग उच्यते।" अर्थात् समता ही योग है। जीवन में राग-द्वेष, प्रेम-घृणा, सुख-दुख और जय-पराजय के चक्कर में पड़कर मनुष्य कभी सुख और कभी दुःख का अनुभव करता है। लेकिन इन सबके बीच समता को बनाए रखना ही योग है। जीवन में सम-विषम परिस्थितियाँ तो आती ही रहेंगी लेकिन उसे मन पर हावी नहीं होने देना है। इसे स्थितप्रज्ञता की अवस्था कहते हैं। इस अवस्था को प्राप्त करना ही योग का ध्येय है।

(4) जीवन शैली में परिवर्तन: औद्योगिकरण, शहरीकरण और भौतिक साधनों के कारण लोगों के जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन आया है। वाहन, टीवी, कंप्यूटर, मोबाइल और इंटरनेट के कारण लोगों की खाने-पीने, चलने-फिरने और सोने की आदतें बदल गई हैं। इसका मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है।

मनुष्य ने पैसे को अपना परमेश्वर बना दिया है और ख़ुद उसका दास बन गया है। सुबह से लेकर रात तक मनुष्य पैसे के पीछे अंधी दौड़ लगाता रहता है और अपनों को पीछे छोड़ता जाता है। इतना ही नहीं संबंधों के मायने भी भूल गया है। मनुष्य ख़ुद नहीं जानता कि वह कहां जा रहा है? किस दिशा की ओर जा रहा है? किसे पाने के लिए जा रहा है? जब बात समझ में आती है तब तक बहुत देर हो चुकी होती है। ऐसी भागदौड़ भरी जिंदगी ही मानसिक तनाव का कारण है। मनुष्य को इस प्रकार की जीवन शैली में परिवर्तन लाना ही होगा। सूर्योदय से पहले उठ जाना, प्रकृति का सान्निध्य प्राप्त करना, संगीत सुनना, शुद्ध हवा में टहलने के लिए जाना, आसन और प्राणायाम के लिए थोड़ा वक्त निकालना, दोपहर को समय पर खाना खा लेना, रात को सोने से दो घंटे पहले हल्का भोजन लेना, रात का भोजन करने के बाद थोड़ा चलना, देर रात तक न जागना, इलेक्ट्रॉनिक साधनों का कम उपयोग करना, परिवार के लिए थोड़ा वक्त निकालना, हास्य की कुछ किताबें पढ़ना, छुट्टियों के दौरान गाँवों में जाकर प्राकृतिक वातावरण में रहना, अपेक्षाएँ कम रखना, कम वस्तुओं से जीवन चलाना सीखना, भारतीय संस्कृति के जीवन मूल्यों को अपनाकर

चलना और पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण न करना इत्यादि आदतें डालनी होगी।

(5) विधायक दृष्टिकोण: मानसिक तनाव से मुक्त होने के लिए व्यक्ति को विधायक दृष्टिकोण अपनाना होगा। विधायक दृष्टिकोण का मतलब है नापसंद और मुश्किल परिस्थितियों को विधायक दृष्टिकोण से देखना। एक कहावत भी है- "जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि।" इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति जैसा सोचेगा उसे अपने आसपास का जगत् वैसा ही दिखेगा। इसलिए जीवन में घटित होने वाली निषेधात्मक घटनाओं का भी विधायक दृष्टिकोण से मूल्यांकन करना चाहिए। विधायक दृष्टिकोण का मतलब है सकारात्मक दृष्टिकोण। इस दृष्टिकोण से व्यक्ति तनाव से मुक्त होगा, शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य में सुधार आएगा, डिप्रेशन से मुक्ति मिलेगी, रक्त का उचित गति से परिभ्रमण होगा, रोगप्रतिकारक क्षमता में वृद्धि होगी और जीवन में आने वाली विपरीत परिस्थितियों के सामने व्यक्ति आसानी से लड़ सकेगा। इसलिए तनाव से भरी हुई परिस्थिति में भी हँसने की आदत डालनी चाहिए क्योंकि हँसी अनेक रोगों की रामबाण औषधि है।

(6) संगीत: तनाव से मुक्ति दिलाने में एवं मूड को फ्रेश करने में संगीत की अहम भूमिका है। संगीत मन का आहार है। प्रकृति के कण कण में संगीत है। कोयल की कुहू कुहू और पपीहे की पीहू पीहू की आवाज़ कुदरत के संगीत का अद्भुत नज़ारा है। पंछियों का मधुर कलरव, पेड़ के पत्तों की मर्मर ध्वनि, बहती हुई नदी की कलकल ध्वनि, मंद समीर की स र र र र ध्वनि और टिप टिप बरसता पानी संगीत का ही रूप है। प्रकृति के इस संगीत का रसास्वाद करने से दिमाग की तरंगों में परिवर्तन होता है और इससे तनाव से मुक्ति मिलती है। इतना ही नहीं, वाद्य यंत्रों का संगीत भी व्यक्ति के ऊपर उतना ही असर करता है। संगीत के कारण व्यक्ति की विचारधारा सकारात्मक और विधायक बनती है और मानसिक शांति का एहसास होता है। संगीत सुनने से व्यक्ति की सृजनात्मकता और रोग प्रतिरोधक क्षमता में भी वृद्धि होती है। आज़ तो कैंसर, डिप्रेशन और अनिद्रा जैसे रोगों में संगीतोपचार पद्धति बड़ी ही कारगर साबित होती दिखाई देती है।

(7) स्थितप्रज्ञता: सम-विषम किसी भी परिस्थिति को अपने ऊपर हावी न होने देना और मन पर नियंत्रण बनाए रखना अर्थात् स्थितप्रज्ञता। सुख और दुःख का चक्र जीवन में चलता ही रहता है। सुख आने पर इतने खुश न हो जाएं कि उसे पचा न सकें और दुःख आने पर इतने दुःखी न हो जाएं कि जीना ही दुश्वार हो जाए। दोनों परिस्थितियों में 'स्व' पर नियंत्रण रखें और मन को विचलित न होने दें। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन में स्थितप्रज्ञता प्राप्त करनी चाहिए। तनाव कभी भी नजदीक आने की हिम्मत नहीं करेगा और कोसों दूर भागेगा।

(8) योग निद्रा: भागदौड़ भरी ज़िंदगी में जिन लोगों के पास समय का अभाव है उन लोगों को तनाव से मुक्ति पाने के लिए रात को सोते समय योगनिद्रा का अभ्यास करना चाहिए। आधे से पौने घंटे तक योगनिंद्रा का अभ्यास करने से मन एकदम शांत हो जाता है, दिन भर की थकान दूर हो जाती है, शरीर एकदम रिलैक्स हो जाता है और चैन की नींद आ जाती है।

(10) शिथिलीकरण की प्रयुक्तियाँ: आधुनिक जीवन शैली के कारण और व्यक्ति के निरंतर तनाव में रहने के कारण शरीर की स्नायु, ग्रंथियाँ, शारीरिक तंत्र और मनोवैज्ञानिक तंत्र को बड़ा नुकसान पहुँचता है। इस नुकसान से बचने के लिए व्यक्ति को शिथिलीकरण करना सीखना चाहिए। शिथिलीकरण की शुरुआत श्वासोच्छ्वास पर ध्यान देने से हो सकती है। इसके लिए शवासन की भारतीय पद्धति का उपयोग किया जा सकता है। इसके परिणामस्वरूप शरीर के स्नायु, शारीरिक तंत्र, विचार और मन को शांति मिलती है और ताज़गी का अनुभव होता है। मन में नकारात्मक विचार कम होते हैं और मन परमानंद का अनुभव करता है।

आइए! हम साथ मिलकर संकल्प करें-

हम अपनी व्यस्त जीवनशैली में बदलाव लाएंगे। भागदौड़-भरी जिंदगी में स्वदेशी जीवन शैली को अपनाकर अपनी दिनचर्या में योग के लिए समय निकालेंगे। आंतरिक और बाह्य उद्दीपकों की ओर से अपने मन को हटाकर अनेकानेक आसनों के अभ्यास द्वारा अपने शरीर को सुडौल व सुगठित बनाएंगे। प्राणायाम के अभ्यास द्वारा अपने तनाव को हटाएंगे। विपरीत से विपरीत परिस्थितियों में भी हम मन को शांत और एकाग्र रखते हुए हर चुनौती का सामना करेंगे व महर्षि पतंजलि के बताए मार्ग पर चलकर जीवन को सुखी और सार्थक बनाएंगे।

******

धर्म-धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम्।
धर्मण लभते सर्वं धर्म प्रसार मिदं जगत् ।।

- वाल्मीकि रामायण से

भावार्थ : धर्म से ही धन, सुख तथा सब कुछ प्राप्त होता है। इस संसार में धर्म ही सार वस्तु है।

भारतीय संस्कृतिः कतिपय विषेषताएँ

डॉ. डॉली जैन'
एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, राजस्थान
विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)

'संस्कृति' शब्द की व्युत्पत्ति सम् उपसर्ग पूर्वक कृ (डुकृञ्) धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाकर हुई है। अतएव संस्कृति का शाब्दिक अर्थ है- उत्तम प्रकार से किया गया कार्य। सामान्यतः समाज में रहने वाले शिष्ट मनुष्यों के सभी साहित्यिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, नैतिक, आध्यात्मिक एवं कलात्मक विचारों और कार्यकलापों को संस्कृति के अन्तर्गत गिना जाता है। संस्कृति व्यक्तिनिष्ठ न होकर अनेक व्यक्तियों द्वारा किया गया एक बौद्धिक प्रयास है। अतएव संस्कृति किसी देश के नागरिकों का शताब्दियों में किया गया कार्य परिणाम है। किसी देश, जाति तथा समाज के विशिष्ट पुरुषों के विचार, कार्य, वचन, आचार, व्यवहार तथा उनके द्वारा संस्थापित परम्पराएँ ही उस देश, जाति आदि की संस्कृति का निर्माण करती हैं। प्रसिद्ध समाजशास्त्री राबर्ट वीरस्टीड का कहना है- 'यह संस्कृति ही है जो एक व्यक्ति को अन्य सब व्यक्तियों से, एक समूह को अन्य सभी समूहों से, और एक समाज को दूसरे समाजों से पृथक् करती है।' वस्तुतः संस्कृति मानव-जीवन के उन समस्त तत्त्वों की समष्टि का नाम है, जिनकी धर्म और दर्शन से उत्पत्ति होकर कला-कौशल, समाज तथा व्यवहार में परिणति हो जाती है।

विश्व के सभी देशों की अपनी-अपनी संस्कृति है और वह सम्बन्धित देशवासियों के लिए महत्त्वपूर्ण है। किन्तु भारतीय संस्कृति विश्व की संस्कृतियों में सबसे प्राचीन और विशिष्ट है। समय-समय पर विजेताओं ने भारतवर्ष पर अपनी संस्कृति को आरोपित करने का प्रयत्न किया, किन्तु भारतीय संस्कृति ने उन संस्कृतियों को आत्मसात् करते हुए अपना अस्तित्व अक्षुण्ण रखा। विश्ववन्द्य, सर्वग्राह्य भारतीय संस्कृति की महत्वपूर्ण विशेषताएँ अधोलिखित हैं-

प्राचीनता एवं दीर्घजीविता

भारतीय संस्कृति विश्व की सब संस्कृतियों से प्राचीन है। यूनान, मिश्र, रोमादि देशों की संस्कृतियों का आविर्भाव होकर तिरोभाव भी हो गया, जबकि भारतीय संस्कृति आज भी अपने मूलरूप में विद्यमान है। प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रतीक वेदमन्त्र, उपनिषद्, गीतादर्शन आदि आज भी हमारे यहाँ मान्य हैं। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय और ब्रह्मचर्य का उपदेश आज भी भारतवासियों को कर्णप्रिय है; राम, कृष्ण आज भी मर्यादापुरुषोत्तम और लीलापुरुषोत्तम के रूप में प्रसिद्ध हैं; सीता, द्रौपदी, दमयन्ती आदि स्त्रियाँ

आज भी पतिव्रता स्त्रियों का आदर्श हैं। कवि इकबाल का कथन द्रष्टव्य है-

सारे जहां से अच्छा हिन्दुस्तां हमारा।
हम बुलबुले हैं इसके ये गुलिस्तां हमारा।।
यूनानो, मिस्र, रोमा सब मिट गए जहाँ से।
बाकी रहा है फिर भी नामोनिशां हमारा।।

आध्यात्मिकता

आध्यात्मिकता भारतीय संस्कृति का प्राण है। राग-द्वेष, काम-क्रोध से लिप्त संसार इस संस्कृति का लक्ष्य नहीं है, अपितु सर्वव्याप्त ईश्वर का साक्षात्कार ही इसका लक्ष्य है। अतएव आध्यात्मिकता का महत्त्व भौतिकता से अधिक है। सांख्य-योग, वेदान्त-मीमांसादि दर्शन इसी आध्यात्मिकता के पोषक हैं। यहाँ प्रत्येक कार्य का सम्बन्ध आत्मा-परमात्मा से जोड़ा जाता है। तदनुसार संसार के प्रत्येक प्राणी में आत्मतत्त्व विद्यमान है। प्रत्येक प्राणी उसी आत्मतत्त्व रूप परब्रह्म से उत्पन्न होकर उसी में विलीन हो जाता है-

भारतीय अध्यात्म में ईश्वर (आत्मतत्त्व) एवं जीव के साथ-साथ माया की भी मान्यता है। तदनुसार माया के कारण ही अज्ञानी व्यक्ति जगत् को ही सत्य मान बैठता है। माया का आवरण हटते ही- 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' की प्रतीति हो जाती है। इतना ही नहीं, भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में आत्मा को अजर, अमर, अविनाशी बताया है-

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।
श्रीमद्भगवद्गीता - 2/20, 23

आस्तिकता

आस्तिकता, भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण गुण है। प्रायः सभी भारतीय सृष्टि के नियन्ता के रूप में एक पारलौकिक शक्ति को स्वीकार करते हैं; उसे परमात्मा, ईश्वर आदि नामों से सम्बोधित करते हैं और यह मानते हैं कि ईश्वर सब में है और सब ईश्वर में हैं। इसीलिए भारत के कवि, व्यापारी, संगीतज्ञ आदि अपने कार्य को प्रारम्भ करने के पहले मंगलाचरण के रूप में ईश्वर का स्मरण करते हैं। यहाँ तक कि चोर-डाकू भी अपने अभियान में निकलते समय अपने अभीष्ट देवता का स्मरण करते हैं। ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने से एकाकी व्यक्ति का मनोबल भी दृढ हो जाता है और वह सत्कार्योन्मुख होता है। ईश्वर की सत्ता को पुष्ट करने के लिए यजुर्वेद की अधोलिखित पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं-

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं।
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयम+ मग्निः।
त्वमेव भान्तमनुभाति सर्वं।
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।

धर्मपरायणता

धर्मपरायणता भी भारतीय संस्कृति की विशेषता है। भारतीय ऋषियों तथा विद्वानों ने प्रत्येक अच्छे कार्य को धर्म से जोड़ा है। पुरुषार्थ-

चतुष्ट्य में भी मोक्ष के अतिरिक्त मुख्य स्थान धर्म का ही है। धर्म से रहित काम तथा अर्थ भी निन्दनीय हैं। महाभारतकार के अनुसार धर्म की परिभाषा इस प्रकार है-

धारणात् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयति प्रजाः
यः स्यात् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।।

धर्म वह महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जिससे इस लोक में भौतिक उन्नति प्राप्त होने के साथ साथ, आध्यात्मिक उत्थान की सिद्धि भी हो जाती है।

देवतावाद

दिव्यगुणों से सम्पन्न शक्तियों को ही देवता माना गया है। यथा - इन्द्र, अग्नि, वायु, वरुण, सूर्य, चन्द्रादि। वैदिक युग में देवताओं का रूप अमूर्त था। पौराणिक युग में इनके रूपों की कल्पना की गई। यही वह समय था, जब सृष्टिकर्त्ता, सृष्टिभर्ता और सृष्टिसंहर्ता के रूप में क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश इन तीन महान् और पूज्य देवों की संकल्पना हुई। हमारे यहाँ यह दृढ मान्यता बनी कि देवगण भक्त की पूजा से प्रसन्न होकर उसे उसका वांछित फल दे देते हैं किन्तु अपराधी और कर्तव्यविमुख व्यक्ति से रुष्ट होने का अधिकारी भी ईश्वर को माना गया।

अवतारवाद

भारतीय संस्कृति के विकास में अवतारवाद का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। भारतीयों का विश्वास है कि जगत् में धर्म की स्थापना हेतु और अत्याचार का दमन करने हेतु अनेक महापुरुषों ने जन्म लिया। आस्थावान एवं धार्मिक व्यक्तियों ने इन्हीं महापुरुषों को भगवान का अवतार कहा। श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

श्रीमद्भगवतगीता-4/7

इसी आधार पर भगवान विष्णु के दशावतारों की परिकल्पना की गई। भारतवर्ष में राम और कृष्ण की अवतार के रूप में प्रतिष्ठा सर्वाधिक है। इसके अतिरिक्त, भगवान बुद्ध, भगवान महावीर और बाद में महात्मा गांधी को भी अवतारी पुरुष माना गया।

कर्मफल एवं पुनर्जन्मवाद

भारतीयों की यह स्पष्ट धारणा है कि मनुष्य को अपने शुभ अथवा अशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है और जब तक कर्मफल पूरे नहीं होते हैं वह जीवन-मरण के चक्र में फँसा रहता है। कर्मफल, चाहे शुभ कर्मों का हो अथवा अशुभ कर्मों का, दोनों की समाप्ति पर ही मोक्ष मिलता है। यही भारतीय जीवन का परमलक्ष्य है। व्यक्ति को चाहिए कि वह कर्म तो करे, पर उसकी कर्मफल के प्रति आसक्ति न हो-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।

श्रीमद्भगवदगीता - 2/47

यम-नियमों का पालन

भारतीय संस्कृति में पाँच यम हैं- सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य। इन पाँचों का पालन करना ही महाव्रत पालन है।

जैनधर्मावलम्बी भी इन पाँचों को धर्मवृक्ष का अंग मानते हैं। इसके अतिरिक्त शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान, ये पाँच नियम हैं। भारतीय संस्कृति में इनका पालन भी अनिवार्य माना गया है।

यज्ञों के प्रति आदरभाव

भारतीय ऋषियों के अनुसार यज्ञों का जीवन में बड़ा महत्त्व है। व्यक्तिगत लाभ की चिन्ता न करते हुए, लोककल्याण की कामना से किए गए सारे कार्य यज्ञ हैं। श्रीकृष्ण ने तो परमात्मा को भी यज्ञ में ही स्थित माना है-

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।

श्रीमद्भगवद्गीता - 3/15

गृहस्थ की लौकिक तथा पारलौकिक कल्याण की कामना से पाँच दैनिक यज्ञों का विधान है- ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ तथा अतिथियज्ञ। इसके अतिरिक्त राजसूय यज्ञ, अश्वमेघ यज्ञ, विश्वजित् आदि यज्ञों का विधान है। अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति हेतु भी यज्ञ की परम्परा भारतीय संस्कृति में रही है।

पुरुषार्थ-चतुष्ट्य

प्राचीन ऋषि-मुनियों ने व्यक्ति की लौकिक तथा पारलौकिक उन्नति के लिए इन चार पुरुषार्थों की सिद्धि परमावश्यक बताई है- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इसमें धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि ही आध्यात्मिक लक्ष्य मोक्ष की सिद्धि का साधन है और लौकिक पुरुषार्थों में धर्म का प्राधान्य है। इसलिए भौतिक आवश्यकताओं की सिद्धि के लिए अर्थ एवं काम पुरुषार्थों का सेवन आवश्यक है; और इन पुरुषार्थों के सेवन से भी धर्म पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। किन्तु इन दोनों का धर्मानुकूल सेवन ही व्यक्ति को अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति करा सकता है। धर्म, अर्थ और काम का यह सम्मिलित सेवन व्यक्ति को मोक्ष मार्ग की ओर उन्मुख करता है और त्रिवर्ग कहलाता है।

वर्णाश्रम व्यवस्था

भारतीय विद्वानों ने कार्यकुशलता और पुरुषार्थ सिद्धि की दृष्टि से समाज को चार वर्णों में विभक्त किया है और मानव जीवन को भी चार आश्रमों में विभक्त किया है। समाज को चार वर्णों में विभक्त करने की यह परम्परा वैदिक युग से ही आरम्भ हो गई थी। प्रमाण स्वरूप श्लोक प्रस्तुत है-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोअजायत।।

ऋग्वेद संहिता

समाज में रहने वाले लोगों को उनकी योग्यता के अनुसार चार वर्णों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-में विभक्त करने का उद्देश्य यही था कि अपने-अपने क्षेत्र का कार्य करते हुए एक वर्ण दूसरे वर्ण को लाभ पहुँचाए। ब्राह्मण अध्ययन-अध्यापन द्वारा अन्य वर्णों को शिक्षित करे; क्षत्रिय बाहुबल से सबकी रक्षा-सुरक्षा करे;

वैश्य वाणिज्य द्वारा सबका पालन-पोषण करे; और शूद्र अपनी सेवा से सबको सुविधा प्रदान करे।

षोडश संस्कार

भारतीय संस्कृति में व्यक्ति के मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से षोडश संस्कारों की प्रशंसनीय कल्पना की गई है। माता के गर्भ में प्रविष्ट होने की अवधि से पंचतत्त्व को प्राप्त होने तक मानव इन्हीं संस्कारों से सुसंस्कृत होता है। अतः भारतीय संस्कृति में मानव के जीवन के कल्याण की दृष्टि से किए गए कार्य संस्कार हैं। इन सोलह संस्कारों के नाम हैं- (1) गर्भाधान, (2) पुंसवन, (3) सीमन्तोन्नयन, (4) जातकर्म, (5) नामकरण, (6) निष्क्रमण, (7) अन्नप्राशन, (8) चूडाकर्म, (9) कर्णवेध, (10) उपनयन, (11) वेदारम्भ, (12) समावर्तन, (13) विवाह, (14) वानप्रस्थ, (15) संन्यास तथा (16) अन्त्येष्टि।

महान् व्यक्तियों के प्रति श्रद्धा

भारतवर्ष में प्रारम्भ से ही पूज्य व्यक्तियों और महापुरुषों के प्रति आदरभाव रखने की प्रेरणा दी गई-

अभिवादनशीलस्य नित्यवृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्।।

इसके अतिरिक्त 'आचार्य देवो भव', 'मातृदेवो भव', 'पितृदेवो भव' और 'अतिथिदेवो भव' आदि उपनिषद्वाक्य भी व्यक्ति को गुरु, माता, पिता तथा अतिथि को देवता मानकर उसका आदर करने की प्रेरणा देते हैं।

विश्वकल्याण की कामना

भारतीय संस्कृति संयुक्त परिवार प्रथा की पक्षधर रही है। उसमें 'परिवार' शब्द का संकीर्ण अर्थ नहीं लिया गया है, अपितु 'वसुधैव कुटुम्बकम्' इस दृढ़ मान्यता को प्रतिष्ठा मिली है। केवल मानव ही के नहीं, पशु-पक्षियों के भी कल्याण की कामना की गई है और इसी कामना को व्यवहार में लाने के लिए अतिथि यज्ञ और प्राणियज्ञों की कल्पना की गई है। 'खुद जियो औरों को भी जीने दो' का नारा ऋषियों द्वारा दिया गया।

अहिंसा

भारतीय संस्कृति मानव को दूसरे मानव तथा मनुष्येतर प्राणियों के लिए दयाभाव की शिक्षा देती है। तदनुसार मन, वचन और कर्म से किसी को भी पीड़ा न पहुँचाना अहिंसा है।

परोपकारपरायणता

'परोपकाराय सतां विभूतयः' मन्त्र की उद्घोषणा करने वाली भारतीय संस्कृति का महान उपदेश है कि दूसरों की भलाई अपने प्राण त्याग कर भी करनी चाहिए। परोपकारी महापुरुषों में सर्पों की रक्षा के लिए गरुड़ को अपना जीवन समर्पित करने वाले राजा जीमूतवाहन का नाम सर्वोपरि है। भारतवर्ष में तो व्यक्तियों को ही

नहीं, प्रकृति को भी परोपकारपरायण माना गया है-

परोपकाराय फलन्ति वृक्षा,
परोपकाराय वहन्ति नद्यः।
परोपकाराय दुहन्ति गावः,
परोपकारार्थमिदं शरीरम्।।

निष्काम कर्मयोग

कर्म करते रहना और कर्त्तव्य का पालन करना यह तो सभी स्थानों में देखा गया है। किन्तु निष्काम कर्मयोग का उपदेश केवल भारतीय संस्कृति में ही दिखाई देता है। तदनुसार मनुष्य को कर्म तो करना चाहिए किन्तु कर्मफल की इच्छा नहीं करनी चाहिए क्योंकि कर्मफल की इच्छा से व्यक्ति मोक्षमार्ग की ओर उन्मुख नहीं हो सकता। वह आसक्ति के बन्धन से भी मुक्त नहीं हो सकता। अतएव, श्रीकृष्ण के मतानुसार निष्काम कर्मयोग जिसमें सिद्धि और असिद्धि के प्रति समभाव रखा जाता है, में समत्व ही योग कहलाता है और यह योग ही मोक्ष का हेतु है।

त्याग भावना

भारतीय संस्कृति शिक्षा देती है कि इस संसार में सब कुछ ईश्वरमय है; ईश्वर से नियन्त्रित है। अतः प्राप्त का त्यागपूर्वक उपभोग करना चाहिए और किसी के धन की लिप्सा नहीं करनी चाहिए-

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।।

-ईशावास्योपनिषद्

सदाचार पालन

भारतीय संस्कृति में धर्मशास्त्रोक्त वचनों के अनुसार अच्छा आचरण करना अनिवार्य है। उपनिषद् वाक्य - 'सत्यं वद, धर्मं चर' आदि सदाचार पालन का ही उपदेश देते हैं।

जननी और जन्मभूमि

'जननी जन्मभूमिश्च स्वार्गादपि गरीयसी।'

यह सूक्ति व्यक्ति को जननी और जन्मभूमि की सेवा करने के लिए प्रेरित करती है क्योंकि भारतीय संस्कृति के अनुसार अपनी माता की गोद और मातृभूमि के आशीर्वाद और वात्सल्य से मिलने वाला सुख स्वर्ग के संभावित सुख से भी अधिक है। 'मातृदेवो भव' माता के प्रति आदर भाव का सूचक उपनिषद्वाक्य है और 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' ऋग्वेद के पृथिवी सूक्त के इस मन्त्र से मातृभूमि को भी माता मानने की प्रेरणा मिलती है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि मैथिलीशरण गुप्त ने तो अपने देश के प्रति गौरव और अभिमान न रखने वाले को 'नरपशु' कहकर जन्मभूमि के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की है-

'जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं नरपशु निरा और मृतक समान है।।'

भारतीय संस्कृति का महत्त्व

भारतीय संस्कृति की उपर्युक्त विषेषताओं को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संस्कृति व्यक्ति की उभयपक्षीय उन्नति करती है। षोडश संस्कार व्यक्ति को शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार से स्वस्थ रखते हैं। पुरुषार्थ-चतुष्ट्य और आश्रमचतुष्ट्य का सिद्धान्त भौतिक उन्नति के साथ साथ आध्यात्मिक उन्नति भी कराता है। वर्णचतुष्ट्य का सिद्धान्त कार्यकुशलता से जुड़ा होने के कारण न केवल व्यक्ति की, अपितु समाज और राष्ट्र की भी उन्नति में सहायक है।

दुःख का विषय है कि पश्चिमी सभ्यता के रंग में रंगे आधुनिक भारतीय अपनी संस्कृति को भूलकर केवल भौतिक उन्नति और पूँजीवाद की ओर आकृष्ट हो रहे हैं। अब वे भारतीय संस्कृति की महत्त्वपूर्ण विशिष्टताओं - त्याग, संतोष, ज्ञान प्राप्ति की इच्छा आदि को भूलकर आर्थिक और राजनैतिक महत्त्वाकांक्षाओं के कुचक्र में फँस रहे हैं। परिणामस्वरूप विनाशकारी संघर्ष हो रहा है और विदेशियों के आक्रमण की सम्भावना बढ़ गई है।

धार्मिक समन्वय की भावना हमें सम्प्रदायवाद से बचा सकती है और तभी भारतीय संस्कृति के प्रतीक देवालय नष्ट होने से बच सकते हैं। विश्व बन्धुत्व का पाठ परमाणु शक्तियों के दुरुपयोग से संसार की रक्षा करने में समर्थ है। स्पष्ट है कि हमें अपनी सर्वतोमुखी उन्नति के लिए भारतीय संस्कृति को अपनाना चाहिए और भारतवर्ष को पुनः जगद्गुरु के पद पर प्रतिष्ठित करने का हर सम्भव प्रयास करना चाहिए।

******

स्वजन

टूटे सुजन मनाइए, जौ टूटे सौ बार।

रहिमन फिरि फिरि पोहिए, टूटे मुक्ताहार॥

अर्थात् - रहीम जी ने सज्जनों तथा अपने लोगों (स्वजन) के रूठ जाने पर उन्हें बार-बार मनाने की बात करते हुए कहा है कि जिस प्रकार मोतियों का हार टूट जाने पर मोतियों को फेंका नहीं जाता, बल्कि उन्हें बार-बार धागे में पिरोकर फिर से हार बना दिया जाता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ लोगों तथा अपने लोगों (कुटुंबी, संबंधी, मित्र आदि) के रूठने या नाराज होने पर उन्हें बार-बार मना लेना चाहिए।

मलमल : हवा से बुना वस्त्र

डॉ. प्रार्थना सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर (इतिहास)
फ.अ.अ.राजकीय महाविद्यालय,
महमूदाबाद, सीतापुर

कला, शिल्प और संस्कृतियां मानव की बसावट के साथ ही नदियों के किनारे जन्मती और विकसित होती रहीं। किसी भी संस्कृति और सभ्यता का उस क्षेत्र के विशिष्ट जलवायु-विषयक और प्राकृतिक तत्वों के साथ संबंध होता है। इतिहास मे यह बात स्वीकृत है कि कपास का मूल स्थान भारत है। सिंधु घाटी के उत्खनन में सूती वस्त्रों का अवशेष मिलता है। इसकी समकालीन सभ्यताएं इससे अपरिचित थीं। कौटिल्य ने सूती वस्त्रों की सूची तथा उनके प्रसिद्ध केन्द्रों पर भी प्रकाश डाला है जिसमें मथुरा, कलिंग, काशी, पूर्वी बंगाल, इलाहाबाद के आस-पास का क्षेत्र शामिल है। बनारस को सूती वस्त्र का महत्वपूर्ण केन्द्र प्रमाणित करते हुए बताते हैं कि कुशल कतिनिएं महीन सूत कातती थीं और बुनकर गफ मोटा सूती वस्त्र बुनते थे।

इतिहासकार फर्नांड ब्राउडल कपास के प्रयोग का श्रेय सबसे पहले सिंधु की प्राचीन सभ्यताओं को देते है। शायद यही कारण है कि प्राचीन भारत सूती वस्त्र बनाने में कुशल हो गया था। कपड़ा इतिहासकार 'पीटर वाइल्ड' और 'फैलिसिटी वाइल्ड' बड़े पैमाने पर सादे कपास की कई किस्मों के उत्पादन की बात कहते हैं जो गुजरात के तीन क्षेत्रों, कोरोमण्डल तट और बंगाल में उत्पादित होती थी जिसमें पूर्वी तट विशेषतः गंगाघाटी का मलमल सर्वोत्कृष्ट होता था।

वास्तव में सूती वस्त्र हल्के और मुलायम होने के कारण जल्दी ही लोकप्रिय हो गए। सूती वस्त्र मोटा होने पर भी गर्म जलवायु में आरामदायक होता था। प्रारम्भिक विश्व में सूती वस्त्र आश्चर्य की वस्तु थी। बेबीलोन में इसे ऊन का पौधा कहा गया। शीघ्र ही पूर्वी अफ्रीका, रोम, पश्चिमी दक्षिणी और पूर्वी एशिया के अनेक देशों में भारतीय सूती वस्त्र विलास की वस्तु बन गये और समाज के उच्चवर्गीय लोगों के दैनिक जीवन की आवश्यक वस्तु बन गये। इण्डिका के अप्रत्यक्ष प्रमाणों से पता चलता है कि भारत में पैदा होने वाली कपास अन्य देशों की अपेक्षा अधिक सफेद और चमकीली होती है। भारतीयों द्वारा आठवीं और नवीं शताब्दी में जापान में कपास ले जाई गई जबकि, चीन में कपास का पौधा छठी शताब्दी में लगाया गया। हम जानते हैं कि ईसा पूर्व से ही भारत का रोम से व्यापार संबंध था। बाद में बायजेंटाइन साम्राज्य में भी यह विकसित हुआ। रोम की नारियाँ भारतीय वस्त्रों और प्रसाधन सामग्री की प्रशंसक थीं। पेरीप्लस ऑफ द एरिथ्रियन सी बेरीगाजा, मुजिरिसी और नेलसिन्डा की बंदरगाहों पर आयातित बड़ी मात्रा में रोमन स्वर्ण और रजत

सिक्कों का पता चलता है। सम्पूर्ण दक्कन और तमिल देश इसमें शामिल थे। अरिकमेडु पुरास्थल जो एक व्यापारिक केन्द्र था, से भी पुरातात्विक पुष्टि हो जाती है। यहाँ मलमल तथा अन्य वस्तुओं का निर्माण रोमन लोगो की पसंद के अनुसार किया जाता था। वस्तुतः यह रोमन व्यापारिक केन्द्र के साथ सेज जैसी आधुनिक अवधारणा से मिलता-जुलता दिखता है। यह आश्चर्यजनक है, किन्तु सत्य है कि पूर्वी यूरोप बहुत विकसित था जिसका पूर्वी सभ्यताओं से व्यापारिक संबंध था जो 1453 ईं. में तुर्कों के कुस्तुनतुनिया आक्रमण से टूटा। बाइजेंटाइन साम्राज्य से भाग कर पश्चिमी यूरोप आये बुद्धिजीवियों और अभिजात्य वर्गीय लोगों को पश्चिमी यूरोप पिछड़ा तथा बर्बर दिखा और फिर शुरू हुआ भौगोलिक खोजों, अविष्कारों और तार्किकताओं का दौर जिसे पुनर्जागरण कहा गया। इसी से जन्मी ईस्ट इण्डिया कम्पनी जब भारत आयी और यहाँ से कपास इंग्लैण्ड ले गई तो वहाँ इसे वृक्ष पर पैदा होने वाला ऊन कह कर आश्चर्य व्यक्त किया गया।

भारत में बने सभी कीमती वस्त्रों में मलमल सर्वाधिक रूप से विशिष्ट था। इसकी बारीकी, कोमलता और चमक ने न केवल मलमल को खास बनाया, बल्कि पूरे विश्व में भारत को खास बना दिया। प्राचीन काल से लेकर अंग्रेजों द्वारा भारत को गुलाम बनाए जाने तक यह अपने स्वरूप में हमेशा राजसी ही रहा।

मलमल की नाजुकता और भव्यता से प्रभावित होकर युआन च्वांग ने इसकी तुलना भोर प्रकाश वाष्प से की। मलमल शब्द की व्युत्पत्ति कैसे हुई तथा बारीक सूती वस्त्र के लिये कब यह नाम प्रयुक्त होने लगा यह कहना कठिन है। मार्कोपोलों के विवरण से पता चलता है कि इराकी शहर मोसुल कपास व्यापार का बड़ा केन्द्र था जिसके आधार पर इस शब्द का प्रयोग मार्कोपोलों ने किया। यह संभव हो सकता है क्योंकि हम जानते हैं कि भारतीय मलमल रोम में विलसिता की वस्तुओं में आता था। आठवीं शताब्दी के बाद से हिन्द महासागर के व्यापार पर अरब व्यापारियों का प्रभुत्व हो गया जिनके माध्यम से बंगाली मलमल बसरा और बगदाद के साथ साथ हजयात्रियों के साथ मक्का तक पहुँचने लगी। दूसरी तरफ हम यह भी जानते हैं कि ईसा पूर्व से ईस्वी सन की शुरूआती 4-5 ईस्वी और आगे चलकर चोलों के समय तक यह व्यापार निरंतर बना रहा, तो निश्चय ही अपने मुलायम स्वरूप के कारण ही यह मलमल कहलाया होगा। मछलीपट्टनम, आन्ध्रप्रदेश के कृष्णानगर जिले से सम्बन्धित है जो 17वीं शताब्दी में ब्रिटिश, डच और फ्रांसिसी व्यापारियों का प्रमुख केन्द्र था।

भारत का सबसे महीन मलमल एक जादू के समान था। इसी कारण रोमनवासी इसे बेस्ट टेक्सटाइल्स और नेबुला की संज्ञा देते थे। वास्तव में मलमल का जादू ऐसा था जैसे असंख्य तारापुंजों से भरी रात हमें एक अलौकिक

आकर्षण से बांध लेती है, उसी प्रकार मलमल से भी पूरा विश्व आश्चर्यचकित हो गया था, मानो वह कोई मानव निर्मित ना हो, तभी तो भारतीय मलमल रोम पहुँच कर अपनी लागत से सौ गुणा दामों पर बिकती थी। टेवेनियर ने मालवा और बंगाल के महीन सूती वस्त्रों की तारीफ करते हुये लिखा है कि वे इतने महीन होते थे कि स्पर्श से ही जाने जा सकते थे। दूसरी और तीसरी शताब्दी तक भारत का महीन सूती वस्त्र जो गंगा की मलमल के नाम से जाना जाता था। राजपरिवारों द्वारा एक सम्मान के तौर पर प्रयोग किया गया। अरब यात्री और विद्वान इब्नबतूता इसे बेहद मूल्यवान वस्तु के रूप में इंगित करते हैं और बताते हैं कि दिल्ली के सुल्तान मुहम्मद-बिन तुगलक द्वारा 14वीं शताब्दी में चीन के युआन सम्राट को भेजे गये उपहारों में से प्रत्येक में कपड़े की पाँच किस्मों के 100 टुकड़े थे। चार बंगाल से थे जिन्हें इब्नबतूता ने क्रमश: बयरामी, सलहिया, शिरिनबफ और शानबफ का नाम दिया।

मुसलमान शासकों द्वारा भारत के पारंपरिक वस्त्र उद्योग को तुरंत अपना लिया गया तथा इसे बराबर प्रोत्साहन दिया गया। शासक वर्ग रत्नों के समान नफ़ीस कपड़ों के भी बड़े प्रेमी रहे। कारीगरों को समय समय पर उपहार देकर सम्मानित किया जाता था। इससे एक ऐसे वातावरण का निर्माण हुआ जिससे कला और श्रम का जीवन में महत्व स्थापित हुआ और अभिजात्य वर्ग में कारीगरों को प्रोत्साहन देने की होड़ सी लग गई।

रोमन साम्राज्य के साथ शुरू हुआ यह व्यापार हिन्द महासागर में समुद्री रेशम मार्ग के विकास के साथ मध्यकाल तक विस्तार करता गया। मुगल शासक भी इसकी खूबसूरती से प्रभावित हुए बिना नही रह सके। मुगल बादशाहों द्वारा मलमल पहनना अभिजात्य वर्ग के बीच यह गुणवत्ता का संकेतक बना। मुगलों ने अपनी राजशाही को सुनियोजित रूप से निर्मित किया। राजत्व के दैवीय सिद्धांत ने सभी अधिकार और शक्ति का केन्द्र बादशाह को बना दिया जिससे बादशाह की जीवन शैली की भव्यता ईश्वर प्रदत्त हो गई। शाही जीवन शैली केवल व्यक्तिगत संतुष्टि के लिये नहीं, बल्कि उसकी राजनीतिक साम्राज्य की भव्यता की प्रतीक भी थी। मलमल इस राजसी सत्ता के तंत्र का अंग बन गया था। मुगलों के समय में राजसत्ता भी व्यापार में शामिल थी। 13वीं शताब्दी के बाद से बंगाल पर मुसलमानों का शासन था। 16वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से अकबर के शासनकाल में मलमल-ए-खास विशेष रूप से सम्राट और शाही घराने के लिये बनाया जाने लगा। मुगल सम्राटों की कलात्मकता, भव्यता और सौन्दर्य बोध उनके जीवन की शैली के साथ जुड़ा था तथा भौतिक संस्कृति में विभिन्न अवययों में प्रदर्शित होता था। अकबर ने भारतीय परिवेश और मलमल के संबंध को तुरंत पहचान लिया तथा मुग़ल ज़ामा की रचना की। सम्राट आते गये और साम्राज्य

बनते-बिगड़ते रहे लेकिन मलमल के जादू से कोई बच ना पाया। मुग़लों ने फारसी क्लासिक कविताओं से चुनकर मलमल को नाम दिया, जैसे-आब-ए-रवाँ (बहता पानी), शबनम (सांझ की ओस), तंजेब (शरीर का आभूषण) आदि। 1840 ई0 तक कम से कम 36 प्रकार की मलमल बुने जाने का पता चलता है। कुछ के नाम विभिन्न बादशाहों और नवाबों की पसंद और संरक्षण के कारण रखे गये, जैसे- महमूदी, अकबरी, जहाँगीरी इत्यादि। 16वीं शताब्दी में अकबर के समय में लिखित 'आइन-ए-अकबरी'में मलमल की कई किस्मों का उल्लेख किया गया है- खासा, तनसुख, नैनसुख, चौतर, अल्लीबल्ली (आला, श्रेष्ठ, बली-अच्छा) अलाम आदि। कुछ प्रमुख मलमल जो अपनी विशिष्टताओं के कारण पहचाने गये, उन में प्रमुख हैं-

आब-ए-रबां जो सर्वश्रेष्ठ ढाकाई मलमल का उदाहरण था इसे दो तहों में संवार कर रखे जाने पर यह पानी की लहरों के तरह झलकती थी। ऐसा लगता था मानो चांदनी रात में पानी बह रहा हो।

- अकबरी मलमल अकबर के दरबार में लोकप्रिय होने के कारण 'अकबरी' कहलाई।
- झबरतली मलमल बिहार के आसुरी तलैया नामक स्थान पर बुनी जाती थी। यह भी मलमल की कीमती किस्मों में से एक थी। मुख्यतः इसका प्रयोग भारत में पगड़ी के लिए होता था। बाद में इसका बड़ी मात्रा में निर्यात इंग्लैंड को किया गया।
- तंजेब का अर्थ है जो शरीर को सुशोभित करता है। मलमल की इस किस्म पर चिकन की कढ़ाई आमतौर पर की जाती थी। यह लखनऊ में भी बुनी जाती थी। ढ़ाका में यही "मलमल खास" कहलाती थी।
- शरबती मलमल ढाका के महीनतम मलमलों मे से एक थी। यह लखनऊ के महमूद नगर स्थान में भी बुनी जाती थी। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण मलमल सदा से शासक वर्ग की पसंदीदा रही। यूरोप में भी फ्रांसीसी रानी मारी अंतुआनेत, फ्रांसीसी सामग्री जोसेफिन बोनापार्ट और जेन आस्टेन आदि शामिल थे। अमीर खुसरो कहते हैं-

"कपड़े की बनावट इतनी महीन थी कि उसके माध्यम से शरीर दिखाई देता था। कोई इस कपड़े के एक पूरे टुकड़े को अपने नाखून के अन्दर मोड़ सकता था फिर भी यह इतना बड़ा था कि सामने आने पर पूरी दुनिया को ढ़क सकता था।" बाद में जब मुग़ल आये तो भी यह मलमल खास उसी प्रकार खास बना रहा।

प्रथम शताब्दी ईस्वी में रोमन लेखक 'पेट्रोनियम' मलमल के जादू से इस कदर प्रभावित था कि वह उसके भावों को वहन करने में सक्षम होकर काव्य की विषयवस्तु बन गया।

वह मलमल की तुलना 'बुनी हवा' से करता है। आखिर मलमल में ऐसा क्या है जो उसे इतना अलौकिक बना देता है। उसके ताने और बाने में कौन-सा रहस्य छुपा था जो कवि के कोमल भावों को वहन करने में सक्षम हो गया। साड़ी जो अंगूठी से गुजारी जा सके या पूरी एक साड़ी को माचिस के डिब्बी में रखा जा सके, यह जादू नहीं तो क्या था जिसने सदियों तक पूरी दुनिया को कैद किये रखा। मलमल में भी ढाकाई मलमल जो इन विशेषताओं को धारण करता है, निश्चय ही अपनी स्थानीय विशिष्टताओं के कारण इतना पारभासी, तन्य और चन्द्रमा की त्वचा (फारसी कवि) के समान बन सका।

थ्रेड काउंट, वजन, बनावट और धागे की गिनती के आधार पर मलमल की विशिष्टता निर्धारित की जाती थी। वास्तव में 2425 थ्रेड काउंट का मलमल आज के उच्च तकनीकी जमाने मे भी बना पाना मुमकिन नहीं है। ब्रिटिश और अन्य यूरोपीय संग्रहालय ही बस इस सच से वाकिफ हैं। ढाका मलमल का 1200 ग्रेड काउंट गिनती में आया किन्तु हाल के वर्षों में हासिल उच्चतम थ्रेड काउंट 300 है। ढ़ाका का मलमल बीजांकुर से लेकर अंतिम प्रक्रिया तक विशिष्टता की मांग करता है।

यह प्रक्रिया यहीं समाप्त नहीं होती है। अगले रोपण मौसम के लिये बीजों को विशेष रूप से उपचारित करके रखा जाता था। अच्छी तरीके से धूप में सूखे बीजों को मिट्टी के बर्तन में घी के साथ रखा जाता था तथा सील बंद कर दिया जाता था तथा इसे सामान्य से थोड़ा गर्म वातावरण में रखने के लिये रसोई घरों की छतों से लटका दिया जाता था। वास्तव में देखा जाए तो प्राचीन भारतीय उपमहाद्वीप की जीवनशैली प्रकृति के साहचर्य के ताने-बाने में बुनी थी। यहां न तो किसी चीज के लिये अलग वातानुकूलित स्थान की जरूरत थी और न ही प्रदूषित करने वाले रसायनों और उपकरणों की। अंग्रेजों की औपनिवेशिक नीति ने और बाद में उसी से जन्में बाजार ने सब कुछ नष्ट कर दिया।

क्या 'प्रेमी की आह' से हल्का, पारदर्शी, बहते पानी (आबे रवाँ) सा यह मलमल, सचमुच हवा से बुना जाता था। निश्चय ही यह पूरी प्रक्रिया एक शिल्पकार के धैर्य, लगन और कलात्मकता को दर्शाती है। धुनकर सबसे हल्का और नाजुक रेशा निकालता है जिसे मलमल के धागे में पिरोया जाता है। वस्तुतः धुनकर, धुन से बना है जो भारतीय शास्त्रीय संगीत का राग है। जिस प्रकार विशिष्ट हल्के ढ़ंग से तारों को झंकृत कर राग की सृष्टि की जाती है उसी प्रकार कपास के ढेर में हवा के कंपन द्वारा एक झनकार उत्पन्न किया जाता था जिससे सबसे हल्के तंतु ऊपर की ओर खिंच आते थे। इसके लिये बहुत हल्के स्पर्श की आवश्यकता होती थी। इसी कारण केवल स्त्रियों ने अपने धैर्य से इसे संवारा। यह बेहतरीन रेशम जो कुल कपास की मात्रा का 8 प्रतिशत होता था। प्राचीन काल से ही दक्षिण भारत के बुनकर बुनाई कला में पारंगत थे तथा

उनकी मलमल को सम्राटों और देवताओं को भेंट दिया जाता था। देवगिरी का मलमल बहुत कीमती होता था जिसे अलाउद्दीन खिलजी ने कर मुक्त कर दिया था। जब ढाका का मलमल निरंतर निखरता गया तो इसके समान मलमल बनाने के लिये 20वीं शताब्दी के आरंभ तक नांदेर तथा नारायण सेठ आदि स्थानों पर तहखानों में बन्द कोठरियों में पानी से तर करके मलमल बनता था।

अपनी उत्कृष्टता के कारण यूरोपीय बाजारों में निरंतर मांग और भारतीय कद्रदानों के कारण मलमल के बहुत से केन्द्र विकसित हुए। इनके अकबरी, झबरतली, तंजेब, मलमल खास और शर्बती जैसी उत्कृष्ट मलमल के अलावा नये-नये अनेक नाम मिलते है जैसे- कनीज़ कल्कनीज़, गंगाजल, ज़ाफरानी, सिलामिल, बदन, सोना, तनसुख पंचतोलिया, भड़ौची, बहादुरशाही, मनसुख, भैरव, राधानगरी आदि। इतनी उत्कृष्ट कोटि की मलमल अब इतिहास बन गई है।

बेहतरीन मलमल का यह केन्द्र यानि ढाका भारत का अंग था जो 1947 ईस्वी में भारत को आज़ादी मिलने पर साथ में मिले विभाजन से एक नये सृजित देश पाकिस्तान का अंग बना जो 1971 में उससे अलग होकर बांग्लादेश की राजधानी बना। अंग्रेजों ने जब भारत पर अधिकार किया तो औद्योगिक क्रांति और मैक्सिम बंदूक के उपनिवेशवाद के शक्तिशाली प्रदर्शन से हमारी मलमल नष्ट को गई। 15वीं शताब्दी के अंत में पुर्तगालियों द्वारा और 17वीं शताब्दी की शुरूआत से डच और अंग्रेजों द्वारा हिन्द महासागर व्यापार में शामिल होने से यह व्यापार तेजी से बढ़ा। यूरोपीय लोग न केवल सूती वस्त्र की गुणवत्ता और मात्रा पर, बल्कि इसके व्यापक व्यापार से चकित भी थे। शीघ्र ही ईस्ट इण्डिया में बंगाल का कपड़ा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापार में 16 प्रतिशत से बढ़कर 55 प्रतिशत हो गया। विश्व व्यापार में भारत का हिस्सा 25 प्रतिशत था और जिस साम्राज्य का सूरज नहीं डूबता था, उसका हिस्सा 2 प्रतिशत से भी कम था और यह कोई किंवदंति नहीं, बल्कि तथ्यों पर आधारित है जो उस समय के तमाम ब्रिटिश व्यापारियों, लेखकों और यात्रियों के विवरण में मिलता है।

ज्ञातव्य है कि यूरोपीय पुनर्जागरण से पूर्व पश्चिमी यूरोप अपने मे लड़ता हुआ, बाहरी दुनिया से अनजान, स्वयं अपने पूर्वी यूरोप की सभ्यता से अनजान, जकड़े हुए समाज और सामंती सोच तथा राजनीतिक प्रणाली का प्रतिनिधित्व करता था। 1453 ई0 के बाद जब पूर्वी यूरोप के लोग तुर्कों से बचकर पश्चिमी यूरोप आये तो इससे एक जागरण की शुरूआत हुई जिसने पश्चिमी यूरोप को भौगोलिक खोजों, अन्वेषण और अविष्कार की नई दुनिया में पहुँचा दिया। यह पूर्वी यूरोपवासी थे जिनका सदियों से भारत से व्यापारिक संबंध था। उसी बेहतरीन मलमल के आदी पूर्वी यूरोपवासी पश्चिम में आकर उन रास्तों की तलाश को विवश हुये जो

उन्हें भारत पहुँचाता था। इसलिये जब इन्होंने अमेरिका को ढूढा तो सोचा यही भारत है। इसलिये अमेरिका के मूलवासियों को रेड इण्डियन कहा गया। इस जागरण से औद्योगिक क्रांति की शुरूआत हुई तथा औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई। आरम्भ में अंग्रेजों ने इस व्यापार पर एकाधिकार का प्रयास किया क्योंकि अभी औद्योगिकीकरण नहीं हुआ था। यह व्यापार ब्रिटिश भाग्य विधाता साबित हुआ। अंग्रेज डकैतों ने बुनकरों के अंगूठे काट लिये ताकि यहाँ के स्थानीय बुनकर मलमल न बना सकें और मलमल का व्यवसाय समाप्त हो जाए और मैनचेस्टर की कॉटन मिलों में तैयार सस्ता माल यहाँ बिक सके। इतना ही नहीं, ब्रिटिश आयात बढ़ा दिया गया तथा भारत के तैयार माल पर निर्यात-कर बढ़ा कर 75 प्रतिशत तक कर दिया गया। इसके साथ ही कच्चे माल का निर्यात करने से मलमल के इस जादू सरीखे व्यापार पर विपरित असर पड़ा। लाखों की श्रमशक्ति, गरीबी और मानव जनित अकाल के कारण बेकारी और मौत से जूझने लगी। बुनकर-कारीगर मजदूर बन गये और ब्रिटिशों के अन्य उपनिवेशकों पर अपने मूल से बिछड़ कर गिरमिटिस मजदूर बन कर रह गये और मलमल नहीं रहा। कपास का अनोखा पौधा फूटी कार्पस विलुप्त हो गया।

"गुड्स फ्रॉम द ईस्ट, 1600-1800" नामक पुस्तक से पता चलता है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने 18वीं शताब्दी के अंत में मलमल की निर्माण प्रक्रिया में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया था। आरम्भ मे कम कीमतों पर अधिक मात्रा में कपड़े के उत्पादन का दबाव डाला। फिर मशीन निर्मित कपड़े, धीरे-धीरे युद्ध, गरीबी, अत्याचार ने पूरे कपड़ा उद्योग को नष्ट कर दिया, तो धैर्य, लगन और महीन कार्य का मलमल कैसे बच सकता था। पूरा उद्यम ध्वस्त हो गया। भारत को गुलाम बने सदियाँ गुजर गईं, ढाका की मलमल बनाने का ज्ञान भूलता गया, फूटी कार्पस का पौधा जो मेधना नदी से दूर नहीं रह सकता था, जेहन से उतर गया, भूला दिया गया। न मत्स्यांगनाओं का जादू रहा, न ही आबे रवाँ की भांति कोई कपड़ा, जो हवा में बुना गया हो।

बंगाली मलमल को फिर से जिंदा करने के प्रयास हो रहे हैं। 2013 में बांग्लादेश में जामदानी मलमल की बुनाई की पारम्परिक कला को यूनेस्को द्वारा मानवता की मौखिक और अमूर्त विरासत की उत्कृष्ट कृतियों की सूची में शामिल किया गया है। आज फिर से 'बंगाल मसलिन' का प्रयास चल रहा है। बंगाल के उस जादू को फिर से ताने-बाने में बांधने की कोशिश की जा रही है। इसके लिये मेधना के पास फिर से फूटी कार्पस की किस्मों को उगाया जा रहा है, ताकि फिर से विश्व उस जादू से परिचित हो सके।

******

मानव जीवन की अमूल्य अभिव्यक्ति : संस्कृति

डॉ. कुलभूषण शर्मा
सहायक आचार्य, हिंदी विभाग,
पंजाब केन्द्रीय विश्वविद्यालय, बठिंडा

मानव जीवन संघर्ष से परिपूर्ण है। जीवन के संघर्ष के कारण व्यक्ति उदासीन होकर कभी एक स्थान से दूसरे स्थान या परिस्थितियों में भटकने लगता है तो कभी इसी से आधार ग्रहण करके आदर्श मार्ग का अनुसरण करता है। जीवन की यही विविधता उसके सुखद भविष्य की नीव बनती है। वस्तुतः मानव जीवन में आदर्श भाव के साथ साथ मानव संस्कृति का सबसे महत्वपूर्ण स्थान माना गया है जो कि आदर्श और संघर्ष के मध्य की अभिव्यक्ति ही है। संस्कृति मानव की ऐसी विशिष्टता है जो उसे मानवेतर प्राणियों से पृथक करती है। संस्कृति मानवीय संस्कारों का ही दूसरा रूप है जिसका लक्ष्य व्यक्तित्व के विकास द्वारा मानव मात्र का कल्याण और समाज तथा विश्व से उसका सामंजस्य स्थापित करना था। समाज विविध सूत्रों द्वारा मनुष्य को ये संस्कार देता है। मनुष्य इन संस्कारों से प्रेरित हो कर अपनी मान्यताओं का निर्माण करता है। मनुष्य द्वारा निर्मित ये आत्मिक एवं सार्वभौमिक मूल्य मानव-समाज की पाशविकता को दूर कर मानवीयता की स्थापना करते हैं। इस प्रकार 'संस्कृति' अपनी मूलभूत प्रकृति एवं स्वरूप के आधार पर संस्कार, धर्म, दर्शन, पौराणिकता, जीवन-मूल्य, नैतिकता आदि शब्दों के निकट पहुँच जाती है। इसके फलस्वरूप शंकाओं का जन्म होता है। अतः 'संस्कृति' शब्द के अभिप्रायः को स्पष्ट करने के लिए उपर्युक्त शब्दों के संदर्भ में'संस्कृति' शब्द की व्याख्या अपेक्षित है।

संस्कृति मानव-मात्र की अमूल्य थाती है जिसका निर्माण संस्कारों के माध्यम से होता है। वस्तुतः भावार्थ की दृष्टि से 'संस्कार' शब्द 'संस्कृति' के निकट है जिससे दोनों शब्दों को एक-दूसरे का पर्याय मान लिया जाता है। डॉ॰ हरवंशलाल शर्मा इस संदर्भ में कहते हैं कि "संस्कार और संस्कृति में कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार संस्कार शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शुद्धि के साधन हैं उसी प्रकार संस्कृति भी शरीर और मन की शुद्धि के द्वारा मनुष्य को अध्यात्म में प्रतिष्ठित करती है।" वहीं दूसरी ओर डॉ॰ मुंशीराम शर्मा संस्कृति और संस्कार को एक-दूसरे के निकट मानते हैं। उनके विचारानुसार 'अर्थ की दृष्टि से एक साध्य है, दूसरा साधन। एक जीवन की ओर इंगित करता है और दूसरा विधि विधानों की ओर। संस्कारों का उद्देश्य है सुसंस्कृत जीवन का निर्माण। सुसंस्कृत जीवन का अर्थ है उन्नत, उदात्त, दिव्य जीवन, मानवता का परिष्करण, देवी-अतिमानव विभूतियों का आधान, परम उज्ज्वल से उज्ज्वल ज्योति स्वरूप शक्ति का मानव काया में अवतरण।" मूलतः 'संस्कार' की अवधारणा संशोधन एवं परिमार्जन प्रक्रिया से संबंधित है जबकि 'संस्कृति' संशोधन के साथ-साथ उदात्त एवं दिव्य भावों की भी प्रदातृ है। अतः स्पष्ट होता है कि संस्कृति संस्कार के माध्यम से

अभिव्यक्त अवश्य होती है किंतु उसकी सत्ता एवं अस्तित्व संस्कार से पृथक है।

संस्कृति संस्कारों को प्रदान करती हुई धर्म प्रधान जीवन का मार्ग प्रशस्त करती है। अतः 'धर्म' संस्कृति का ऐसा मूलभूत तत्व है जिसके विधान द्वारा मानव कल्याण-पथ पर अग्रसर होता है। इसी संदर्भ में अनेक विद्वान धर्म और संस्कृति को अभिन्न मान एक ही तत्व के दो नाम घोषित करते हैं। यह सत्य है कि धर्म संस्कृति को उदात्तता प्रदान कर मनुष्य में निहित सदाचार, दयालुता, त्याग, सहनशीलता, साहस आदि गुणों का विकास करता है जिससे मनुष्य सुसंस्कृत बनता है। किंतु फिर भी संस्कृति और धर्म में अपार विविधताएँ देखी जा सकती हैं। वैशेषिक सूत्र के अनुसार धर्म ऐसा मूलभूत तत्व है जिसके माध्यम से मनुष्य का आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक विकास होता है। धर्म मानव-समाज की ऐसी मूलभूत विशिष्टता है जिसमें मात्र शास्त्रसम्मत बातों का ही अनुमोदन किया जाता है। जबकि संस्कृति मानव-समाज की ऐसी विशिष्टता है जो यदा-कदा शास्त्रविरुद्ध लौकिक एवं अलौकिक वस्तुओं को भी आत्मसात् करती है। अतः संस्कृति का सार धार्मिक जीवन होने के बाद भी दोनों में व्यापक असमानता है।

संस्कृति सृष्टि की अक्षय निधि है जिससे मूल्यों का संरक्षण एवं प्रसार होता है। इन मूल्यों के माध्यम से नैतिक जीवन का आदर्श प्रस्तुत होता है। 'नैतिक' शब्द की व्युत्पत्ति 'नीति' से मानी गई है जिस पर विचार करते हुए कहा गया है कि 'मानव-समाज को श्लाघनीय एवं सुव्यवस्थित पथ पर अग्रसर करने तथा उसके प्रत्येक व्यक्ति को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सम्यक एवं सुगमता से उपलब्धि कराने हेतु विधि अथवा निषेधात्मक, वैयक्तिक एवं सामाजिक नियमों का विधान जो देश, काल एवं पात्र को लक्ष्य में रखकर बनाया जाता है, वही नीति है।" नीति से संबद्ध विवेक के माध्यम से नैतिकता का भाव उदित होता है। नैतिकता ही जीवन-मूल्यों के संयोग से मानव-जीवन की जटिलता में समृद्धि एवं विकास का मार्ग प्रशस्त करती है। नैतिक पूर्ण जीवन-मूल्य ही जीवन को अर्थ प्रदान कर जीवन को उत्कर्ष की ओर ले जाते हैं। संस्कृति ऐसी ही आदर्श मान्यताओं तथा जीवन-मूल्यों की समन्वित राशि है। अतः संस्कृति को नैतिकता अथवा जीवन-मूल्यों से संबद्ध कर व्याख्यायित किया जाता है। वस्तुतः संस्कृति नैतिकता को ग्रहण अवश्य करती है किंतु साथ ही उसमें संस्करण की भावना भी विद्यमान रहती है। इसी परिप्रेक्ष्य में संस्कृति जीवन-मूल्यों के निकट होने के बाद भी दोनों में पर्याप्त विविधता दृष्टिगत होने लगती है। संस्कृति ऐसी संस्कार युक्त भावना है जो नैतिकता अथवा जीवन-मूल्यों का आश्रय लेकर मनुष्य को यथार्थ से ऊपर उठाकर आदर्श की ओर अग्रसर करती है। इसी कारण संस्कृति और नैतिकता में समानता होने के बाद भी विविधता के दर्शन किए जा सकते हैं।

संस्कृति का वास्तविक स्वरूप पुराणों के संस्पर्श से निर्मित हुआ है। संस्कृति और पौराणिकता के इन्हीं घनिष्ठ संबंधों के कारण भ्रम की स्थिति उत्पन्न होती है। 'पुराण' का सामान्य अर्थ है - पुराना। वस्तुतः पुराण अति महत्वपूर्ण वाङ्मय है जिसमें सृष्टि के आदिकाल से लेकर मनुष्य की समस्त परंपराएँ तथा वंशावलियाँ

अलौकिक एवं दिव्य घटनाओं से मंडित होकर चित्रित हुई हैं। (पुराण ही भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है - वह आधारपीठ है जिस पर आधुनिक भारतीय समाज अपने नियमन को प्रतिष्ठित करता है।) पुराणों के ही माध्यम से प्रत्येक वर्ण एवं आश्रम के कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक, सदाचार एवं नीति का बोध, योग तथा दर्शन का ज्ञान उपलब्ध होता है। पुराणों में चित्रित इन सांस्कृतिक दृष्टिकोणों एवं नैतिक मानकों के माध्यम से लोक-जीवन को स्थिरता तथा स्थायित्व प्राप्त होता है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि पौराणिकता एवं संस्कृति में घनिष्ठ संबंध है। वस्तुतः संस्कृति पौराणिकता के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करती है तथा पौराणिकता मानव के आचार-विचार का परिष्कार करती हुई संस्कृति को गौरव प्रदान करती है। मूल रूप से धर्म के समान ही पौराणिकता का आधार शास्त्र ही हैं। अतः पौराणिकता एवं संस्कृति में अन्योन्याश्रित संबंध होने के बाद भी दोनों में पर्याप्त अंतर विद्यमान है।

'संस्कृति' शब्द के संदर्भ में 'दर्शन' शब्द की भी चर्चा की जाती है। 'दर्शन' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है- 'दृश्येत अनेन इति दर्शनम्' - अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाए वह दर्शन है। 'दर्शन' शब्द में निहित दर्शन का भाव मनुष्य जीवन एवं जगत् के सत्यभूत तात्विक स्वरूप के निरीक्षण एवं परीक्षण के संदर्भ में आया है। इस प्रकार 'दर्शन' जीवन की व्याख्या कर आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक पदार्थों का विश्लेषण करता है। "संस्कृति भी मनुष्य के जीवन के अर्थ के प्रति विशद्, सचेतना, विश्व की समस्याओं का व्यवस्थित एवं सापेक्ष महत्व की दृष्टि से विशद सर्वेक्षण और उत्तम वस्तुओं के विवेक संगत चयन को स्वयं में समाहित भी करती है और उन्हें क्रियान्वित भी करती है। संस्कृति का उद्देश्य मनुष्य के आचार और विचार का परिमार्जन करते हुए उसे पशुता से मनुष्यता की ओर अग्रसर करना है। इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्कृति दर्शन के समान जीवन की व्याख्या करती है तथा परिष्करण कर्म में प्रवृत्त रहती है। किंतु संस्कृति की व्यापक संकल्पना दर्शन की सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए विविध कलाओं को भी स्पर्श करती है। अतः कहा जा सकता है कि दर्शन संस्कृति की अभिव्यक्ति का माध्यम है, वहीं दर्शन संस्कृति का आविभाज्य अंतरवर्ती तत्व है जो कि आदर्श जीवन का प्रदाता है।

संस्कृति मानव-जीवन के आंतरिक पक्ष से संबंधित है। संस्कृति का बाह्य समाज में अभिव्यक्त रूप सभ्यता कहलाता है। इसी कारण संस्कृति का अन्यतम एवं महत्त्वपूर्ण तत्व सभ्यता माना गया। यद्यपि संस्कृति और सभ्यता मानव-विकास के दो पृथक् तत्व हैं, तथापि दोनों परस्पर संबद्ध हैं। दोनों अवधारणाओं में आत्मा और शरीर का-सा संबंध है जिसके विषय में विद्वानों में प्रायः मतभेद देखने को मिलता है। वस्तुतः सभ्यता का संबंध उस नगरीय जीवन से है जो सुख समृद्धि में विश्वास रखती है। अतः इस संदर्भ में डॉ॰ देवराज अपना मत प्रकट करते हुए कहते हैं कि, "सभ्यता से तात्पर्य उन सब कला-कौशल के मंत्र और तरीकों से है जिनके द्वारा मनुष्य अपनी मूल क्षुधाओं तथा आवश्यकताओं को सरलतापूर्वक पूर्ण कर सकता है। .... सभ्यता मानव क्रियाकलापों से उत्पन्न होने वाली उन वस्तुओं का नाम है जो मनुष्य की सुरक्षा और स्वतंत्रता का कारण होती है।"

सभ्यता को अंग्रेज़ी में सिविलाइजेशन कहते हैं तथा इस शब्द पर विचार करते हुए डॉ॰ प्रसन्नी कुमार आचार्य 'सभ्यता' को मानवीय शिष्टाचार एवं सामाजिक व्यवहार का रूप मानते हैं।" वहीं दूसरी ओर संस्कृति का संबंध मानव के अंतःकरण से मानकर उसकी व्याख्या की गई है। डॉ॰ डी॰ एस॰ मजूमदार के अनुसार संस्कृति के अंतर्गत मनुष्य के रीति-नीति, लोक-विश्वास, आदर्श, कलाएँ तथा मानव द्वारा उपलब्ध समस्त कौशलों एवं योग्यताओं को लिया जा सकता है।" इस प्रकार स्पष्ट होता है कि व्याकरणिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से संस्कृति एवं सभ्यता में अपार अंतर है। इन दोनों का विश्लेषण करते हुए बाबू गुलाबराय कहते हैं कि -"संस्कृति के बाह्य पक्ष को ही सभ्यता कहते हैं। सभ्यता मूल अर्थ में तो व्यवहार की साधुता की द्योतक होती है परंतु अर्थ विस्तार से यह शब्द रहन-सहन की उच्चता तथा सुखमय जीवन व्यतीत करने के साधनों, जैसे कला-कौशल, स्थापत्य, ज्ञान-विज्ञान और उन्नति पर लागू होता है ....संस्कृति की आत्मा के बिना शव की भाँति निष्प्राण रहता है। इसी संदर्भ में डॉ॰ मुंशीराम शर्मा अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं कि "संस्कृति और सभ्यता दो भिन्न-भिन्न स्थितियों के द्योतक हैं। एक को आत्मा तो दूसरी को शरीर कहा जा सकता है। संस्कृति आंतरिक नैर्मल्य है तो सभ्यता बाह्य प्रसाधन। एक में शांति है तो दूसरी में चमक-दमक। ... सभ्यता निश्चित रूप से भौतिक एवं बाह्य आकर्षण मात्र है। संस्कृति आत्मा का श्रृंगार करती है, हृदय को उदात्त बनाती है तथा मन को निर्मल विचारों से सुशोभित करती है।" इसके अतिरिक्त, रामधारी सिंह दिनकर संस्कृति को सभ्यता से अभिन्न स्वीकार कर मानते हैं कि "यह सभ्यता के भीतर इसी प्रकार व्याप्त रहती है जैसे दूध में मक्खन या फूलों में सुगंध।" इस प्रकार स्पष्ट होता है कि संस्कृति और सभ्यता में अंगागी भाव ही नहीं है बल्कि ये दोनों एक-दूसरे के पूरक भी हैं। आदर्श जीवन की प्राप्ति के लिए जहाँ एक ओर आंतरिक सौंदर्य-चेतना से परिपूर्ण, आत्मिक एवं मानसिक गुण युक्त संस्कृति की आवश्यकता है, वहीं इस संस्कृति का बाहरी एवं भौतिक रूप युक्त सभ्यता की भी महत्ता है। संस्कृति सभ्यता से विकास-तत्व ग्रहण कर सार्वभौमिक रूप धारण करती है। अतः शिष्टाचार एवं बाह्य रूप संस्कृति समाज की मार्गदर्शिका बन मनुष्य का संपूर्ण विकास करती है।

संस्कृति संस्कार का समन्वित रूप है जो जीवन-मूल्य, आदर्श, परंपरा, बाह्य सभ्यता, धर्म, दर्शन आदि तत्त्वों को समाहित कर मानव-जीवन को सुंदर एवं मंगलमय बनाने का प्रयास करती है। वस्तुतः संस्कृति, धर्म, दर्शन, अध्यात्म, संस्कार एवं सभ्यता से पृथक् अस्तित्व स्थापित कर व्यापक एवं आंतरिक विचारों को उद्घाटित करती है। संस्कृति से संबंधित निश्चित मत प्रस्तुत करने से पूर्व संस्कृति संबंधी भारतीय एवं पाश्चात्य चिंतन को जानना आवश्यक है। इन्हीं के संदर्भ में संस्कृति के मूल रूप को व्याख्यायित किया जा सकता है। सभी विद्वानों चाहे वे भारतीय हो या पाश्चात्य सभी ने संस्कृति को अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। अतः इस परिप्रेक्ष्य में विविध विचारों की प्रस्तुति के संदर्भ में संस्कृति को समझा जा सकता है।

भारतीय चिंतन में संस्कृति को मानवीय आंतरिक गुण मान उसके विविध तत्वों का

विश्लेषण किया गया है। वास्तव में किसी भी राष्ट्र की संस्कृति ही उसे गौरवान्वित कर उसकी पृथक् पहचान बनाती है। संस्कृति के कारण ही इतिहास एवं परंपरा के तत्त्व सुदृढ़ हो पाते हैं जिनके परिणामस्वरूप किसी राष्ट्र का अस्तित्व बना रहता है। साथ ही संस्कृति सूक्ष्म एवं बौद्धिक क्रिया-व्यापार द्वारा मन के समस्त राग-द्वेषों का संस्कार कर जीवन को मानसिक एवं आध्यात्मिक शांति देती है। अतः भारतीय मनीषियों ने संस्कृति की विविधता रेखांकित करते हुए विविध मंतव्य प्रस्तुत किए। इस संदर्भ में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी संस्कृति का संबंध श्रेष्ठ साधनों से स्थापित कर कहते हैं कि - "मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएँ ही संस्कृति है। ... अपनी चरम सत्यानुभूति को प्रकट करते समय कबीरदास ने कहा था - 'ऐसा लो नहीं तैसा लो, मैं कहि विधि कही अनूठा लो।' मनुष्य की सामान्य संस्कृति भी बहुत कुछ ऐसी ही अनूठी है। मनुष्य ने उसे अभी तक संपूर्ण रूप से पाया नहीं है, पर उसे पाने के लिए व्यग्र भाव से उद्योग कर रहा है।" वहीं डॉ॰ सत्यकेतु विद्यालंकार संस्कृति को साधना के स्थान पर बौद्धिक क्रिया-व्यापार मान कहते हैं कि, "मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर विचार और कर्म के क्षेत्र में जो सृजन करता है, उसी को संस्कृति कहते हैं।" इसके अतिरिक्त श्री इंद्रविद्या वाचस्पति संस्कृति को अध्यात्म, समाज एवं मन का समन्वित रूप मानते हैं। उनके शब्दों में, 'किसी देश की आध्यात्मिक, सामाजिक और मानसिक विभूति को उस देश की संस्कृति कहते हैं।"

संस्कृति मानव की ऐसी विशिष्टता है जो उसे मानवेतर प्राणियों से पृथक् कर समाज से जोड़ती है। समाज में ही संस्कृति का जन्म होता है और उसके मापदंड स्थिर होने के पश्चात् आदर्श जीवन का सिद्धांत जन्म लेता है। अतः संस्कृति को दैनिक सामाजिक जीवन का आदर्श स्वरूप मान डॉ॰ हरवंशलाल शर्मा कहते हैं कि, "किसी विशिष्ट समाज द्वारा दीर्घ सामाजिक अनुभवों के आधार पर साधु आचरण के जो मापदण्ड स्थिर कर दिये जाते हैं, वे सब सूक्ष्म भावनात्मक रूप से परिणत होकर समाज के दैनिक जीवन में अनायास ही व्यवहृत होने लगता है - तो संस्कृति का नाम पाते हैं।" वहीं दूसरी ओर प्रभुदयाल मीतल संस्कृति में समाज के साथ-साथ पारलौकिक तत्व की भी सत्ता स्वीकार करते हैं, "मानव-जीवन के समस्त संस्कार जो लौकिक और पारलौकिक उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करते हुए उसके सर्वांगीण जीवन का निर्माण करते हैं, उसकी संस्कृति कहे जाते हैं। संस्कृति किसी भी देश, जाति या समाज की आत्मा होती है। उसमें उक्त देश, जाति या समाज के चिंतन-मनन, आचार-विचार, रहन-सहन, बोली-भाषा, वेश-भूषा, शिक्षा, कला-कौशल आदि सभी बातों का समावेश होता है।" इसी परिप्रेक्ष्य में वाचस्पति गैरोला का मानना है कि - "जिनसे मानवता का संस्कार हो, ऐसी शिक्षा-दीक्षा, ऐसा रहन-सहन और ऐसी परंपराएँ ही संस्कृति के उद्भावक हैं। संस्कृति एक सामाजिक विरासत है और वह संचय से विकसित होती है।"

संस्कृति जीवन-जीने की प्रणाली है। यह प्रणाली संपूर्ण समूह में समाहित रहती है। इस प्रणाली का आधार मनुष्य-जीवन के आधारभूत मूल्य हैं। इसी कारण डॉ॰ राधाकृष्णन ने संस्कृति को विवेक बुद्धि एवं जीवन को भली प्रकार जान लेने का नाम कहा है।वहीं दूसरी ओर श्यामाचरण

दुबे का मानना है कि "सीखे हुए व्यवहार-प्रकारों की उस समग्रता को जो किसी समूह को वैशिष्ट्य प्रदान करती है उसे संस्कृति की संज्ञा दी जा सकती है।"

भारतीय विद्वानों के समान पाश्चात्य चिंतनधारा में भी 'संस्कृति' की व्यापकता पर विशद विचार किया गया है। पाश्चात्य चिंतकों के अनुसार संस्कृति का संबंध मानवता से है तथा मनुष्य के अस्तित्व में मानवता का ही भाव निहित है। अतः संस्कृति ही मनुष्य के व्यक्तित्व एवं अस्तित्व को स्थापित करती है। इस संदर्भ में बेकन अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं कि "सर्वश्रेष्ठ ढंग से समझने के लिए इसे मानवता का वह प्रयत्न कहा जा सकता है जिसमें वह अपने आंतरिक अस्तित्व को प्रभावपूर्ण ढंग से स्थापित करती रही है।" वहीं मैथ्यु ऑर्नोल्ड मनुष्य की पूर्णता के सभी प्रयत्नों के सम्मिश्रित रूप को संस्कृति मानते हैं। उनके विचारानुसार "संस्कृति पूर्णता का अध्ययन है जिससे हमें वास्तविक मानवीय पूर्णता को उसके पूर्ण रूप में देखने में मदद करती है। इसके साथ ही हमारी मानवता के सभी क्षेत्रों को विकसित करती है और एक सामान्य पूर्णता के रूप में हमारे समाज के सभी अंगों का विकास करती है।"

उपर्युक्त भारतीय एवं पाश्चात्य मतों के आधार पर 'संस्कृति' की अवधारणा को जानने के पश्चात् अंततः कहा जा सकता है कि संस्कृति मानव-निर्मित व्यापक अवधारणा है। मानव समुदाय द्वारा सृजित संस्कृति वस्तुतः एक विशिष्ट जीवन पद्धति है जो मानवीय मूल्यों, पौराणिकता, धर्म, अध्यात्म, दर्शन आदि तत्वों को समाहित कर शिष्टाचार युक्त सभ्यता के रूप में स्वयं को अभिव्यक्त करती है। प्राकृतिक परिवेश से आधारशिला ग्रहण कर संस्कृति मनुष्य को उदात्त एवं महिमामयी जीवन प्रदान करती है। संस्कृति अपने मूल रूप में मानव-मात्र की अमूल्य आंतरिक थाती है जिनसे जाति विशेष की संपूर्ण आस्थाओं एवं विश्वासों का स्वरूप निर्धारित होता है। इसके अतिरिक्त संस्कृति के अंतर्गत मनोविकार भी अभिव्यक्ति पाकर मनुष्यता को स्थापित करते हैं। वहीं संस्कृति हमारे खान-पान, रहन-सहन, धर्म, विश्वास, विचार, रीति-रिवाज, कला, संगीत, नृत्य, गीत, पर्वोत्सव, आमोद-प्रमोद आदि विविध माध्यमों द्वारा निरंतर अभिव्यक्ति पाती है। संस्कृति एक व्यापक अवधारणा है जो वास्तव में जीवन की विविधरूपा व्याख्या ही नहीं करती बल्कि आदर्श मार्ग भी दिखाती है I किसी भी देश की संस्कृति से उस देश की मूल विचारधारा और सामाजिक व्यवस्था का ही बोध होता है अतः संस्कृति का स्वरूप मानव जीवन की अमूल्य अभिव्यक्ति के रूप देखा जा सकता है।

****

विद्यां ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम् ।
पात्रत्वात् धनमाप्नोति धनात् धर्मं ततः सुखम् ।।

अर्थ- ज्ञान से नम्रता, विनय से योग्यता, योग्यता से धन, धन से धर्म और धर्म से सुख प्राप्त होता है।

वैश्वीकरण और हिंदी की दशा

संजय कुमार

प्रबंधक (राजभाषा), भारतीय रिजर्व बैंक जम्मू

एवं डॉ. सुजाता चतुर्वेदी, कानपुर

भाषा और समाज का अन्योन्याश्रित संबंध है। भाषा के बिना समाज गूँगा है और समाज के बिना भाषा का कोई अस्तित्व नहीं है। समाज का प्रत्येक कार्य-व्यवहार प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से भाषा से अनुप्राणित है और उसका प्रत्येक घटनाक्रम भाषा को प्रभावित करता है। समाज का दायरा विस्तृत होने पर भाषा के क्षितिज का विस्तार होता है और भाषा परिमार्जित होती है। वहीं, दायरा संकुचित होने पर भाषायी आधार सिमटता है और भाषा में जड़ता आती है। वैश्वीकरण भी एक तरह की वृहद सामाजिक-आर्थिक परिघटना है जिसने विश्व-समुदाय के विभिन्न अवयवों के साथ-साथ भाषा को भी प्रभावित किया है। वैश्वीकरण ने हिंदी को किस तरह प्रभावित किया इस विषय पर मंथन करने से पूर्व वैश्वीकरण को समझ लेना प्रासंगिक होगा।

वैश्वीकरण

वैश्वीकरण को 'भूमण्डलीकरण' भी कहा जाता है जिसका शाब्दिक अर्थ है-स्थानीय या क्षेत्रीय वस्तुओं अथवा क्रियाकलापों का विस्तार पूरे विश्व में करना। भूमंडलीकरण एक 'प्रक्रिया' है जो धीरे-धीरे एवं चरणबद्ध तरीके से वैश्विक समुदाय को एकीकृत करने का प्रयत्न करती है। यह एकीकरण ज्ञान, विज्ञान, कला, विचार, अर्थ, संस्कृति, व्यापार किसी भी रूप में हो सकता है। वैश्वीकरण की प्रक्रिया उतनी ही पुरानी है जितनी मानव सभ्यता। जंगल के खानाबदोश जीवन से लेकर सुसंस्कृत समाज तक का मानव का सफर, और गुफा से लेकर चकाचौंध भरे विश्वपटल पर उसकी गरिमामयी उपस्थिति वैश्वीकरण के क्रमिक विकास की कहानी है। हमारे सनातन धर्म में विश्व को एक परिवार माना गया है- वसुधैव कुटुम्बकम्। सनातन धर्म की यह विचारधारा दुनिया को एक कुटुम्ब के स्तर पर लाने की बात करती है जो विश्वग्राम से भी छोटी इकाई है। ऐतिहासिक अध्ययन से हमें ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी में सिंधु घाटी सभ्यता और सुमेरियाई सभ्यता के बीच व्यापारिक संबंध होने का पता चलता है। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर 18वीं शताब्दी तक रेशम मार्ग से होने वाला व्यवसाय वैश्वीकरण प्रक्रिया की एक अन्य प्राचीनतम बानगी है। लगभग 6500 किलोमीटर का यह मार्ग जो पूर्व में चीन से शुरू होकर हिमालय और हिंदुकुश पर्वतमालाओं से होते हुए पश्चिम में मध्य एशिया, अफ्रीका और यूरोप को जोड़ता था, सिर्फ व्यापार का ही मार्ग नहीं था, अपितु इस रास्ते भिक्षुओं, तीर्थयात्रियों के आवागमन के साथ-साथ ज्ञान, धर्म, संस्कृति, भाषाओं और विचारधाराओं का प्रसार भी हुआ और इसने चीन, भारत, मिस्र, ईरान, अरब

और प्राचीन रोम की महान सभ्यताओं के विकास पर अपना गहरा प्रभाव डाला। इसके अतिरिक्त, पुर्तगाली नाविकों द्वारा महासागरों की विकराल लहरों के बीच जान जोखिम में डालते हुए देशों की खोज के लिए प्रयाण वैश्वीकरण की दिशा में उठाए गए शुरुआती कदम कहे जा सकते हैं। परंतु एक संकल्पना के तौर पर 'वैश्वीकरण' (ग्लोबलाइज़ेशन)' शब्द 1980 के दशक में प्रतिष्ठित हुआ जब 1983 में अमेरिका के हार्वर्ड बिज़नेस स्कूल के एक अर्थशास्त्री का' ग्लोबलाइज़ेशन ऑफ मार्केट्स' नामक आलेख 'हार्वर्ड बिज़नेस रिव्यू' के मई-जून 1983 अंक में प्रकाशित हुआ। विद्वानों ने वैश्वीकरण को अपने-अपने तरीके से परिभाषित किया है ब्रिटिश समाजशास्त्री मार्टिन अल्ब्रो के अनुसार- वैश्वीकरण उन सभी प्रक्रियाओं का समेकित रूप है जिनके द्वारा दुनिया के लोगों को एक ही विश्व-समाज में शामिल किया जाता है।"

स्वीडिश पत्रकार थॉमस लार्सन अपनी पुस्तक 'द रेस टू द टॉप: द रीयल स्टोरी ऑफ ग्लोबलाइज़ेशन'में कहते हैं- "वैश्वीकरण दुनिया के संकुचन की प्रक्रिया है जिसमें दूरियां घट रही होती हैं, चीजें नजदीक आ रही होती हैं और दुनिया के एक छोर पर बैठा व्यक्ति पारस्परिक लाभ के लिए दुनिया के दूसरे छोर पर बैठे व्यक्ति से संपर्क कर सकता है।

अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष ने वैश्वीकरण के चार मूलभूत पहलुओं को रेखांकित किया है: व्यापार और लेनदेन, पूँजी और निवेश संबंधी गतिविधियाँ, प्रवास और पलायन तथा ज्ञान का प्रसार। जब इन गतिविधियों का प्रसार एक देश की सीमा के पार होता है, तो इसे वैश्वीकरण कहा जा सकता है।

इस प्रकार वैश्वीकरण एक बहुआयामी प्रक्रिया है, जिसका मूलभूत तत्व है- प्रवाह। प्रवाह कई तरह का हो सकता है, जैसे- दुनिया के एक हिस्से के विचारों का दूसरे हिस्सों में पहुँचना, पूँजी का एक से ज्यादा जगहों पर जाना, वस्तुओं और सेवाओं का कई देशों तक पहुँचना और बेहतर आजीविका की तलाश में लोगों का विश्व के विभिन्न हिस्सों में आवगमन तथा इन सब से उत्पन्न विश्व-व्यापी पारस्परिक जुड़ाव और पारस्परिक निर्भरता। यद्यपि पूर्वोक्त तत्व प्राचीन काल में भी थे, पर इन प्रवाहों की गति वह नहीं थी जो सूचना और संचार प्रौद्योगिकी, परिवहन के अत्याधुनिक साधनों और बाजारवाद की बढ़ती प्रवृत्ति के कारण वर्तमान समय में हो गई है। अतएव, यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि सूचना और संचार क्रांति तथा बाजारवाद वैश्वीकरण के प्रमुख उत्प्रेरक रहे हैं।

वैश्वीकरण का हिंदी पर प्रभाव

चूँकि, प्रभावित करना एवं होना वैश्वीकरण की अनिवार्य प्रवृत्ति है; अतएव, वैश्वीकरण से समाज, संस्कृति, अर्थव्यवस्था, राजनीति, भाषा आदि का प्रभावित होना स्वाभाविक है। हिंदी को

वैश्वीकरण ने कई रूपों में प्रभावित किया है। इनमें से कुछ प्रभाव सकारात्मक, तो कुछ नकारात्मक रहे हैं। सर्वप्रथम हम सकारात्मक प्रभावों पर चर्चा करेंगे।

वैश्वीकरण का हिंदी पर सकारात्मक प्रभाव

वैश्वीकरण के कारण हिंदी के क्षितिज़ का विस्तार हुआ है और इस विस्तार में निम्नलिखित कारकों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है:-

प्रौद्योगिकी

विश्वग्राम की संकल्पना को साकार करने में प्रौद्योगिकी की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण रही है। सूचना-प्रौद्योगिकी के प्लेटफार्म पर आरूढ़ होकर भाषाएँ अभूतपूर्व गति से सरहदों के पार पहुँची हैं। आज इंटरनेट और सोशल मीडिया के द्वारा हिंदी उन सुदूरवर्ती देशों और क्षेत्रों तक पहुँच चुकी है जहाँ अभी तक व्यक्तिगत रूप से कोई भारतीय या भारतीय मूल का व्यक्ति नहीं पहुँचा है। यह प्रसार इसलिए भी संभव हुआ है क्योंकि सीमा पार जाने में भाषा को किसी वीज़ा या पासपोर्ट की जरूरत नहीं पड़ती। प्रौद्योगिकी के चलते अब भाषाएँ सीखना भी काफी आसान हो गया है। पहले यदि किसी अहिंदी भाषी को हिंदी सीखनी होती थी तो उसे किसी हिंदी-शिक्षक के सानिध्य की आवश्यकता होती थी। किंतु आज की वर्चुअल दुनिया में जरूरी नहीं कि गुरू जी के चरणों में बैठकर ही भाषा सीखी जाए। आज यू-ट्यूब, वेबिनार, स्काइप, वीसी, वीडियो कॉलिंग जैसे तमाम ऑनलाइन शिक्षण-माध्यम हैं जिनसे दुनिया के किसी भी छोर पर बैठा व्यक्ति आसानी से हिंदी सीख सकता है। सूचना प्रौद्योगिकी ने भाषा को कागज़ और कलम के बंधन से भी मुक्त किया है। एक अहिंदी भाषी के लिए कलम से हिंदी लिखना कठिन कार्य है। किंतु यूनिकोड के आगमन और फोनोटिक की-बोर्ड की उपलब्धता ने उसकी मुश्किल आसान कर दी है। अब वह अंग्रेजी की-बोर्ड का प्रयोग करते हुए हिंदी में दक्षता के साथ काम कर सकता है। विभिन्न प्रकार के ऑनलाइन शब्दकोशों और ट्रांसलेशन एप्लीकेशनों की मदद से अब हिंदी में संप्रेषण की चाहत रखने वाला दुनिया का कोई भी व्यक्ति हिंदी में अपनी बात रख सकता है, जो यह दर्शाता है कि प्रौद्योगिकी के कारण हिंदी की परिधि विस्तृत हुई है।

रोजगार

भाषा का रोजगार से भी सीधा संबंध है। जिस भाषा को सीखने से रोजगार प्राप्त होने की सर्वाधिक संभावना होती है, लोग वही भाषा सीखते हैं। यद्यपि हिंदी में वैश्विक स्तर पर रोजगार की उतनी संभावनाएं नहीं हैं, जितनी अंग्रेजी में हैं, पर हिंदी भाषियों के बीच सेवा प्रदान करने वाली बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए हिंदी में ही अपार संभावनाएँ हैं। वे हिंदी के द्वारा ही हिंदी भाषियों के बीच अपने उत्पादों और सेवाओं का विपणन कर सकती हैं। रोजगार और हिंदी-प्रसार का एक अन्य पहलू यह भी है कि

जब रोजगार के प्रयोजन से एक हिंदी भाषी विदेशों में जाता है, तो उसकी वृत्ति की भाषा तो अंग्रेजी होती है, पर मातृभाषा हिंदी होने के कारण वह जाने-अनजाने विदेशी धरती पर हिंदी के बीज बिखेरता रहता है। आज अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी, कनाडा, फ्रांस सहित खाड़ी देशों में तमाम हिंदी भाषी नौकरी कर रहे हैं। विदेशी धरती पर हिंदी भाषियों की बड़ी संख्या में उपस्थिति वहाँ की फिज़ा में अनायास ही हिंदी घोल देती है।

रोजगार के अवसरों से सिर्फ विदेशों में ही हिंदी का प्रसार नहीं हुआ है, अपितु देश के उन भागों में भी हिंदी फैली है जहाँ पहले उसके बोलने और समझने वाले इक्का-दुक्का हुआ करते थे। उदाहरण के लिए दक्षिण भारत में अब से तीस-चालीस वर्ष पूर्व तक हिंदी बोलने और समझने वाले काफी कम होते थे।पर सन 1991 में उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण के फलस्वरूप वहाँ बहुराष्ट्रीय कंपनियों के तमाम कार्यालय, कारखाने और संयंत्र खुले, जिसके कारण नौकरी के नए अवसर पैदा हुए। इन नौकरियों के लिए जब बड़ी संख्या में उत्तर भारत के पेशेवर वहाँ गए, तो वहाँ बाजार, हाट,मॉल, रेस्त्रां, बस-स्टैण्ड आदि के साथ-साथ गली, मुहल्लों के लोग भी हिंदी से परिचित होने लगे। वर्ष 2011 की जनगणना के आँकड़े बताते हैं कि वर्ष 2001 से 2011 के बीच दक्षिण भारतीय राज्यों में हिंदी बोलने वालों की संख्या में 33% की वृद्धि हुई है। हिंदी बोलने वालों की संख्या में वृद्धि के ये आंकड़े प्रवास के बदलते ट्रेंड का परिणाम हैं।

व्यापार

देशों को करीब लाने में आर्थिक निहितार्थों की अहम भूमिका रही है। यही कारण है कि कुछ लोग वैश्वीकरण को बाजारवाद का पर्याय भी मानते हैं। मुक्त बाजार व्यवस्था के दौर में अधिक मुनाफे वाले बाजारों की तलाश और निवेश पर अधिकतम प्रतिफल अर्जित करने की ख्वाहिश ने व्यावसायिक गतिविधियों का दायरा बढ़ाकर पूरा विश्व कर दिया है। भाषा के बिना व्यापार संभव नहीं है। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर जितनी तेजी से कारोबारी गतिविधियाँ बढ़ी हैं, भाषा का प्रसार भी उसी रफ्तार से हुआ है। दुनिया में हिंदी भाषी उपभोक्ताओं की तादात काफी अधिक है। 2011 की जनगणना के अनुसार सिर्फ भारत में ही हिंदी बोलने वालों की संख्या 52 करोड़ थी और इसमें लगभग 25% की दशकीय वृद्धि (2001 से 2011) देखी गई। भारत के अलावा नेपाल, मॉरीशस, फिजी, सूरीनाम, गुयाना, त्रिनिनाद, टुबैगो, सिंगापुर, भूटान, इंडोनेशिया, बाली, सुमात्रा, बांग्लादेश और पाकिस्तान में हिंदी खूब बोली व समझी जाती है। विश्व के इस बड़े उपभोक्ता वर्ग तक माल और सेवाएँ पहुँचाने के लिए हिंदी को अपनाना बहुराष्ट्रीय कंपनियों की मजबूरी बन गयी है। आज सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हिंदी का जो विकास हुआ है, वह उन देशों/बहुराष्ट्रीय कंपनियों

के प्रयासों से हुआ है जिनकी भाषा तो हिंदी नहीं थी, पर कारोबार के लिए अहम जरूरतँ थी। माइक्रोसॉफ्ट द्वारा हिंदी सहित विभिन्न भाषाओं के कैरेक्टर्स की जो यूनिकोडिंग की गई, उसका मूल उद्देश्य कारोबार की आधार भूमि तैयार करना था। ठीक उसी तरह से, जिस तरह अंग्रेजों ने भारत में अपनी कारोबारी जरूरतों के लिए रेल, डाक, तार जैसी बुनियादी सुविधाएँ विकसित कीं और जो भारतीयों के काम भी आयीं। आज 'स्पीच टू टेक्स्ट'और 'टेक्स्ट टू स्पीच'जैसे कई ऐप्लिकेशनस हैं जहाँ ट्रांसलेशन टूल की मदद से एक अहिंदी भाषी कारोबारी एक हिंदी भाषी कारोबारी से संवाद स्थापित कर सकता है। माइक्रोसॉफ्ट के इंजीनियर डॉ. बालेंदु शर्मा दाधीच कहते हैं कि हम कारोबार के क्षेत्र में भाषा-तकनीक की पराकाष्ठा तब समझेंगे, जब भारत का एक अनपढ़ हिंदी भाषी किसान भी टेक्सास के कारोबारी को अपने उत्पाद फेस-टू-फेस मोल तोल के जरिए बेच रहा होगा। प्रौद्योगिकी ने यह संभव कर दिखाया है कि कोई एक भाषा जानने पर आप सब भाषाभाषियों के बीच कारोबार कर सकते हैं। हिंदी भाषियों की संख्या ही उनकी सबसे बड़ी मजबूती है जो अंतरराष्ट्रीय कारोबार में हिंदी को हमेशा केंद्रीय भूमिका में रखेगी। आज विश्व के 93 से अधिक देशों में हिंदी पढ़ाई जा रही है। विदेशों में पठन-पाठन का यह काम हिंदी को बढ़ावा देने या उसे संरक्षित करने की किसी नैतिक अथवा संवैधानिक जिम्मेदारी के तहत नहीं हो रहा, बल्कि यह सब हिंदी की संभावनाओं के दृष्टिगत किया जा रहा है।

निजीकरण

निजीकरण और मुक्त बाजार व्यवस्था वैश्वीकरण के अनिवार्य घटक हैं। कतिपय मामलों में निजीकरण ने भी हिंदी प्रयोग को बढ़ावा दिया है। यदि हम इसे दुनिया के सबसे बड़े हिंदी भाषी देश भारत के संदर्भ में देखें तो ज्ञात होता है कि वहाँ नब्बे के दशक के पूर्व तक इलेक्ट्रॉनिक लोक-संचार का माध्यम केवल आकाशवाणी और दूरदर्शन थे। किंतु नब्बे के दशक में शुरू हुए उदारीकरण और निजीकरण से मीडिया के क्षेत्र में निजी कंपनियों ने कदम रखा और देखते ही देखते खेल, समाचार, फिल्म, मनोरंजन से जुड़े तमाम हिंदी चैनल अस्तित्व में आ गए। इन चैनलों ने विज्ञापन और खबरों के कारोबार से मुनाफा कमाने के साथ-साथ हिंदी का भी भरपूर प्रचार-प्रसार किया। मीडिया लोकतंत्र का चौथा स्तंभ माना जाता है। यह जनता और सरकार के मध्य संपर्क की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। भारत में हाल के वर्षों में हिंदी समाचार चैनलों ने लोकप्रियता का जो मुकाम हासिल किया है, वह अपने आप में एक मिसाल है। निजी चैनलों ने सिर्फ ख़बर सुनाने के एक पक्षीय संप्रेषण-क्रम को तोड़ते हुए ज्वलंत मुद्दों पर पैनल चर्चा का जो अभिनव प्रयोग किया है, उससे न केवल हिंदी भाषा के प्रसार को गति मिली है, अपितु विषय के विविध पहलुओं पर लोगों की समझ

भी बढ़ी है। निजी क्षेत्रों द्वारा संचालित हिंदी का प्रिंट मीडिया भी हिंदी प्रसार में अग्रणी भूमिका निभा रहा है।

प्रवास और पलायन

वैश्वीकरण प्रवासन को बढ़ावा देता है और इससे भाषाएँ सरहदों के पार पहुँचती हैं। प्रवासन स्वैच्छिक भी हो सकता है अथवा शासन-प्रायोजित भी। प्रायोजित प्रवासन के तहत सन 1834 से लेकर 1922 तक ब्रिटिश हुकूमत द्वारा पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार से बहुत से श्रमिकों को नील, चाय और गन्ने के खेतों में काम के लिए फिजी, मॉरीशस, सूरीनाम, त्रिनिडाड, गुयाना जैसे उपनिवेशों में ले जाया गया। चूँकि ये लोग बहुत मेहनती थे और अपने सक्रिय योगदान से वहाँ की अर्थव्यवस्था को मजबूत कर रहे थे, अतएव, वहाँ की सरकारों ने उन्हें वहीं बस जाने का प्रस्ताव दिया और कालांतर में वे हमेशा के लिए वहाँ रच-बस गए। इनके बसने के साथ ही इनकी भाषा (हिंदी) और संस्कृति भी विदेशी भूमि पर पुष्पित और पल्लवित होने लगी। वैश्वीकरण ने टैलेंट के पलायन को बढ़ावा दिया है और इससे स्वैच्छिक प्रवासन तेज हुआ है। आज बहुत से हुनरमंद हिंदी भाषी बेहतर अवसरों की तलाश में विदेशों में नौकरी के लिए जाते हैं और कालांतर में वहीं बस जाते हैं। इस प्रक्रिया से भी हिंदी का बीज-वृक्ष विदेशों में पनपने लगता है।

वैश्वीकरण का हिंदी पर नकारात्मक प्रभाव

वैश्वीकरण के फलस्वरूप जहाँ एक ओर हिंदी का प्रसार विदेशों तक हुआ है; वहीं अपने ही घर में हिंदी की स्थिति (विशेषकर लेखन में) उत्साहजनक नहीं रही है। हिंदी की इस स्थिति के लिए जिम्मेदार कारणों को हम निम्नलिखित बिंदुओं के अंतर्गत स्पष्ट करेंगे:

वैश्विक संपर्क भाषा के रूप में स्वीकार्यता

वैश्वीकरण ने जब रोजगार का दायरा बढ़ाकर पूरा विश्व कर दिया तो एक ऐसी भाषा की आवश्यकता महसूस की जाने लगी जो दुनिया के हर कोने में समझी जाती हो। इस लिहाज़ से एक संपर्क भाषा के रूप में वैश्विक स्तर पर अंग्रेजी की स्वीकार्यता हिंदी के मुकाबले काफी अधिक थी। यही कारण रहा कि हिंदी-भाषी क्षेत्रों की नई पीढ़ी अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाई करने को उन्मुख हुई और देखते ही देखते इंगलिश मीडियम स्कूलों की बाढ़-सी आ गई। इन सबके चलते हिंदी क्रमशः लेखन में नदारद होने लगी और उसका वृहद शब्द-भंडार प्रयोग के स्तर पर धीरे-धीरे सिकुड़ने लगा। शब्दों की अपनी आयु होती है। जिस शब्द का जितना अधिक प्रयोग होता है, वह उतना दीर्घायु होता है, और जिन शब्दों का बहुत कम प्रयोग होता है, वे आहिस्ता-आहिस्ता मृतप्राय हो जाते हैं। शब्दों के मरने से भाषा का क्षरण शुरु हो जाता है और वह अभिव्यक्ति के लिए दूसरी भाषाओं के शब्दों की मोहताज हो जाती है। आचार्य चाणक्य ने ठीक ही कहा है:

अनभ्यासे विषं विद्या अजीर्णे भोजनं विषम् ।
विषं सभा दरिद्रस्य वृद्धस्य तरुणी विषम् ।।

अर्थात् जिस प्रकार अभ्यास न करने से विद्या नष्ट हो जाती है, उसी तरह प्रयोग न होने से भाषा नष्ट हो जाती है।

तकनीकी विषयों से संबंधित अध्ययन सामग्री का अभाव

वैश्वीकरण ने अर्थवाद को बढ़ावा दिया है अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो अर्थवाद ही वैश्वीकरण का प्रणेता है। आज के आर्थिक युग में युवा पीढ़ी उन्हीं विषयों का अध्ययन करती है जिनके अध्ययन से बेहतर आर्थिक जरिया पैदा होने की संभावना हो। अब लोग साधारण बीए, बीएससी, बीकॉम, एमए, एमएससी में दाखिला लेने की बजाए, इजीनियरिंग, मेडिकल, वित्त, प्रबंधन, कंप्यूटर आदि से जुड़े पेशवर कोर्सों, डिप्लोमा और डिग्रियों को तरज़ीह दे रहे हैं। इन कोर्सों की अध्ययन सामग्री या तो हिंदी में नहीं है अथवा अनूदित क्लिष्ट हिंदी में है। इन विशिष्ट विषयों की अध्ययन सामग्री हिंदी में उपलब्ध न होने के कारण हिंदी भाषी मजबूरन अंग्रेजी की शरण में जा रहे हैं।जब वे अंग्रेजी माध्यम से पढ़कर उपरोक्त डिग्रियाँ/डिप्लोमा हासिल करेंगे तो जाहिर है कि उनकी हिंदी-अभिव्यक्ति उतनी धारदार नहीं रह जाएगी।

पाश्चात्य संस्कृति की ओर झुकाव

वैश्वीकरण के कारण दुनिया का सिर्फ आर्थिक मोर्चे पर ही एकीकरण नहीं हुआ है, अपितु सांस्कृतिक एकीकरण भी हुआ है। यदि हम भारत की बात करें तो देखते हैं कि उदारीकरण के बाद से विचारधारा स्तर पर पाश्चात्य संस्कृति तेजी से हावी हुई है जो लार्ड मैकाले के उस विज़न को पुष्ट करती है जो उसने ब्रिटिश भारत में अंग्रेजी-शिक्षा के संबंध में 1835 में अपने 'मिनट ऑफ़ एजुकेशन' में व्यक्त किया था- मैं लोगों का एक ऐसा वर्ग तैयार करूँगा जो रंगरूप में तो भारतीय होगा, किंतु विचारधारा से बिल्कुल अंग्रेज होगा। यही नहीं, उसने भारत और अरब के साहित्य की उपयोगिता का मजाक उड़ाते हुए कहा था- एक अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय की सिर्फ एक शेल्फ भारत और अरब के संपूर्ण साहित्य से बेहतर है। मैकाले के इस विज़न से प्रेरित कुछ हिंदी भाषी अपनी भाषा और संस्कृति पर गर्व करने की बजाए विदेशी भाषा और संस्कृति का अनुसरण करने में गौरवान्वित महसूस कर रहे हैं। भाषा का संस्कृति से अविछिन्न संबंध होता है। संस्कृति परिवर्तित होने पर भाषा भी परिवर्तित हो जाती है। एक हिंदी भाषी के दैनिक व्यवहार में पाश्चात्य संस्कृति का जैसे-जैसे दखल बढ़ेगा, वह अपनी ही भाषा से दूर होता जाएगा। हिंदी के साथ आज यही हो रहा है।दूसरी बात यह भी है कि वैश्वीकरण ने शहरीकरण को बढ़ावा दिया है और इससे हमारी लोकभाषाएं, लोक संस्कृति और लोक कलाएं, जिनसे हिंदी अभिसिंचित है, विलुप्त हो रही हैं। अब शादी समारोहों में अवधी में सोहर गाती औरतें अथवा भोजपुरी लोकगीतों को गुनगुनाते हुए खेतों में धान की रोपाई करता महिलाओं का झुण्ड बिरले दिखता है। 'टाटा-बाय-

बाय', 'हेलो सी यू' जैसी पाश्चात्य पद्धतियों ने 'चरण स्पर्श', 'प्रणाम', 'पांय लागौं' जैसे आत्मीयतापूर्ण अभिवादन के हमारे संस्कारों को हमसे दूर कर दिया है। हम यजुर्वेद में वर्णित अपनी सनातन संस्कृति "सा प्रथमा संस्कृतिः विश्ववारा की महत्ता को भूल चुके हैं। आज नई पीढ़ी पुरानी पीढ़ी की पथ-प्रदर्शक बनी हुई है और पुरानी पीढ़ी की भाषा, वेश-भूषा,खान-पान, संस्कारों, मान्यताओं आदि पर तंज कसते हुए उन्हें उनके पिछड़ेपन का अहसास कराती है। अपनी संस्कृतिके प्रति नई पीढ़ी का ऐसा दृष्टिकोण हिंदी के आधार को धीरे-धीरे कमजोर कर रहा है।

सूचना-प्रौद्योगिकी के साथ शुरुआती फासला

शुरु-शूरु में जब कंप्यूटर/मोबाइल आए थे, तो वे सिर्फ अंग्रेजी में कार्य करने में सक्षम थे। यही हाल ई-मेल, ब्लॉग, ऐप्स और सोशल मीडिया के अन्य प्लेटफार्मों का भी था। यद्यपि कालांतर में इन पर हिंदी सहित अन्य भाषाओं में कार्य करने की सुविधा हुई, किंतु तब तक देर हो चुकी थी क्योंकि हिंदी भाषियों को इन पर अंग्रेजी में कार्य करने की आदत लग गई थी। जिस प्रकार ओलम्पिक की 100 मीटर की दौड़ में यदि किसी धावक के शुरुआती कदम लड़खड़ा जाएं, तो वह लाख कोशिशों के बावजूद रेस जीत नहीं पाता। यही स्थिति हिंदी के साथ भी रही और जिसका दंश वह आज रोमन लिपि में लिखी जाने वाली हिंदी के रूप में झेल रही है। भाषा लिपि के बिना नहीं चल सकती। हिंदी का सही मायने में विस्तार तभी होगा जब वह अपनी लिपि अर्थात् देवनागरी के साथ आगे बढ़े।

निष्कर्ष

हिंदी पर वैश्वीकरण के प्रभावों का समग्र विश्लेषण करने के उपरांत हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कतिपय नकारात्मक प्रभावों के बावजूद वैश्वीकरण से हिंदी के प्रचार-प्रसार का क्षेत्र काफी व्यापक हुआ है। इसमें दूसरी भाषाओं के प्रचलित शब्द भी शामिल हो रहे हैं जो इसकी जीवंतता और समय-सापेक्षता की निशानी हैं। पहले विदेशियों द्वारा जो भाषा खुफिया जानकारियाँ एकत्र करने के सीमित उद्देश्य से सीखी जाती थी, वही अब कारोबार, ज्ञान, कला, संस्कृति जैसे वृहद उद्देश्यों को ध्यान में रखकर सीखी जा रही है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वाचिक भाषा के रूप में इसका प्रयोग बढ रहा है, जो भाषा के भावी अस्तित्व के बारे में स्वर्णिम संकेत है। हिंदी की व्यापक से अंतरराष्ट्रीय स्वीकृति बढ़ती रहे, इसके लिए हिंदी-भाषी देशों का विश्वमंच पर केंद्रीय भूमिका में रहना बहुत जरूरी है। हिंदी-भाषी देश आर्थिक, वैज्ञानिक, सामरिक और राजनीतिक रूप से जितना अधिक सशक्त होंगे, विश्वफलक हिंदी का परचम भी उतनी तेजी से लहराएगा।

******

सांस्कृतिक धरोहर का पुंज : केरल

सैजू के.
शोध छात्र, हिन्दी
कोच्चि विश्वविद्यालय

केरल की संस्कृति काफी समृद्ध है। केरल की महानगरीय आबादी ने केरल की संस्कृति को परिभाषित करने में मदद की है। यह विभिन्न द्रविड़ जातियों, हिंदुओं और मुसलमानों का निवास स्थान है। केरल वासियों द्वारा अपनाए गए कई सांस्कृतिक सांचे होने के साथ साथ पूरी सांस्कृतिक विरासत को सुशोभित करते हैं। इस प्रकार इस राज्य की संस्कृति विविध रूप से मजबूत होने के साथ-साथ सामाजिक-जातीय प्रथाओं और मानदंडों का एक समूह बन गई है। केरल की संगीत, कला, नृत्य, त्योहार, भोजन और जीवन शैली आदि केरल की संस्कृति की पहचान हैं। प्रसिद्ध पैंटोमाइम डांस-ड्रामा, कथकली, संगीत की सोपानम शैली, स्वाति थिरुनल का और राजा रवि वर्मा का संगीत और पेंटिंग के क्षेत्र में अद्वितीय योगदान हैं।

सांस्कृतिक विविधताओं की भूमि केरल एक समग्र सांस्कृतिक समाहार है जिसमें विभिन्न धर्मों, समुदायों, क्षेत्रीय संस्कृतियों और भाषाई विविधताओं का समावेश है। केरल की सांस्कृतिक विविधता का निर्माण अरब सागर और पश्चिमी घाटों के बीच इसकी भौगोलिक अवस्थिति के कारण हुआ है।केरल प्राचीन काल से ही एक विशिष्ट सांस्कृतिक क्षेत्र के रूप में प्रसिद्ध रहा है। केरल के पूरब और दक्षिण में तमिलनाडु; उत्तर और उत्तर-पूर्व में कर्नाटक; और पश्चिम में अरब सागर है। केरल की सांस्कृतिक विरासत शताब्दियों पुरानी है। केरल की संस्कृति देशज कला, भाषा, साहित्य, स्थापत्य शैली, संगीत, त्योहारों, पाककला, पुरातात्विक स्मारकों, विरासत केंद्रों आदि का मिश्रित रूप है।

केरल की विशिष्ट स्थापत्य परंपरा है। उपासना स्थल और प्राचीन भवन इस स्थापत्य शैली के उदाहरण हैं जो सरलता पर बल देती है। इन उपासना स्थलों और प्राचीन भवनों का निर्माण तचुशास्त्र के अनुसार किया गया था। आप यहाँ विशिष्ट मंदिर स्थापत्य शैली भी देख सकते हैं। तंत्र समुच्चयम, शिल्पचंद्रिका और मनुष्यालय चंद्रिका स्थापत्य विज्ञान विषय पर रचित केरल के कुछ प्रमुख ग्रंथ हैं।

मलयालम सिनेमा का क्षेत्र भारतीय सिनेमा के सबसे मजबूत स्तंभों में शुमार है। केरल ने देश को अनेक विश्वविख्यात फिल्मी हस्तियां दी हैं। केरल में पहला सिने-फिल्म कोषिक्कोड में 1906 में दिखाई गई थी। बीसवीं सदी के तीसरे दशक तक मोबाइल सिनेमा स्क्रीनिंग ने स्थायी सिनेमा हॉलों के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। शुरुआती दिनों में प्रायः तमिल फिल्में दिखाई जाती थीं। पहली मलयालम फिल्म मलयालम सिनेमा के प्रणेता माने जाने वाले जे. सी. डैनियल की बिना आवाज का फिल्म (साइलेंट फिल्म) विगता कुमारन थी। 1933 में दूसरी फिल्म आई मार्तंड

वर्मा। मलयालम की पहली बोलती फिल्म थी बालन (1938)। पहले सिनेमा स्टूडियो उदय की केरलवासियों द्वारा मनाया जाने वाला रंगीन त्योहार केरल की संस्कृति का एक अभिन्न तत्व है। केरल कई मंदिरों की भूमि है जिसका परिसर त्यौहार के मैदान में तब्दील हो जाता है जहाँ हज़ारों लोग बड़े हर्ष और उत्साह के साथ भाग लेते हैं। हालांकि त्यौहार देवताओं और धार्मिक मान्यताओं की पूजा की याद दिलाते हैं परंतु यहाँ इन घटनाओं को सामाजिक कार्यक्रमों में बदल दिया जाता है, जो मज़ेदार और मनमोहक होती हैं। कोई भी त्यौहार हाथी के पग के बिना फलदायी नहीं माना जाता है और यह केरल के त्यौहारों को दृश्य व्यवहार में प्रतिबिम्बित होता है।

केरल के कला परिदृश्य में प्राचीन शास्त्रीय कलाओं, लोक कलाओं के साथ-साथ सिनेमा जैसे आधुनिक कला स्वरूप शामिल हैं। केरल की कलाओं को आम तौर पर ऑडियो-विजुअल (श्रव्य-दृश्य), और शास्त्रीय एवं लोक कलाओं के रूप में विभाजित किया जा सकता है। दृश्य कलाओं में मंचीय कला, मूर्तिकला, चित्रकला के साथ-साथ सिनेमा, शास्त्रीय और लोक कला दोनों तरह की कलाएँ भी शामिल हैं। संगीत और वाद्य श्रव्य कला के रूप हैं। केरल की सांगीतिक संस्कृति में शामिल हैं लोक संगीत (लोक गीत, आनुष्ठानिक गान, तिरुवातिरा गान, वंचिपाट्टु) और शास्त्रीय संगीत जिसमें आते हैं कर्नाटक संगीत, कथकली संगीत और सोपान संगीत। केरल के पारंपरिक वाद्ययंत्रों में शामिल प्रमुख ऑर्केस्ट्रा हैं- पंचवाद्यम, चेंडामेलम और तायम्बका।

जहां तक संगीत और नृत्य रूपों की भव्यता और रचनात्मकता का संबंध है, केरल अजेय बना हुआ है। केरल का लोक संगीत हालांकि परिष्कृत नहीं है लेकिन अपनी लय के साथ एक बीहड़ सुंदरता से समृद्ध है। ये ज्यादातर प्रकृति की भक्ति से परिपूर्ण हैं, जैसे सर्पपट्टु, भद्रकलिपट्टु, अय्यप्पनपट्टु आदि वाद्य प्रदर्शनों में थ्य्यमपका, पंचवद्यम और केलिकोतु किया विशेष उल्लेख किया जा सकता है। चेंडा और चेंगला केरल के कुछ विशिष्ट उपकरण हैं।

कथकली, मोहिनीअट्टम जैसे कला रूपों का प्रदर्शन केरल की संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। केरल के लोग मार्शल आर्ट रूपों और कलारीपयट्टू का उदाहरण देते हैं। शासकों ने इस कला शैली की शुरुआत की। लोक नृत्य और इसकी प्रदर्शन शैली जीवंत हैं। थेयम, थिरुवथिराकली और कैकोटिकल्ली लोकप्रिय लोक नृत्य इसके के कुछ उदाहरण हैं। केरल की संस्कृति कई आदिवासी कला रूपों को भी परिलक्षित करती है।

नाटक के क्षेत्र में केरल की अपनी परंपरा है। आधुनिक केरल नाटक के विकास के निर्णायक चरण की शुरुआत सी वी आर पिल्लई द्वारा ऐतिहासिक विषयों के साथ लघु नाटकों की एक श्रृंखला से हुई। राज्य की आधिकारिक भाषा मलयालम है। मलयालम साहित्य भी प्रतिभा और रचनात्मकता से संपन्न है। 14 वीं सदी के निरानम कवियों की अद्भुत रचनाएँ आधुनिक मलयालम भाषा और स्वदेशी केरल की कविता दोनों की याद दिलाती हैं।

भोजन केरल संस्कृति की एक मुख्य विशेषता है। यहाँ के व्यंजन गर्म और मसालेदार हैं और केरलवासियों को व्यंजनों के साथ प्रयोग करना बहुत पसंद है। चावल और मछली केरल में मुख्य भोजन है। नारियल का उपयोग हर प्रकार के पकवान में व्यापक रूप से किया जाता है। मिर्च, करी पत्ता, इमली, हींग का पर्याप्त उपयोग भी किया जाता है। केरल भारत का एक प्रमुख राज्य है जो बिभिन्न पकवानों की पेशकश करता है। इस में शाकाहारी ,मांसाहारी और मिठाइयाँ सभी तरह के व्यंजन शामिल हैं; जैसे- केरल समुद्र से घिरा हुआ सुंदर राज्य है जो अपनी नॉन-वेजेटेरियन डिशों के लिए दुनिया भर में प्रसिध्द है। केरल की कुछ ऐसी ही सबसे प्रमुख और पसंदीदा नॉनबेज खाने की सूची निम्नलिखित हैं-

नादान कोझी वरुथु (मसालेदार चिकन फ्राई)

यदि आप चिकन के शौकीन हैं तो आपको केरल की सबसे लजीज नॉन वेज डिश नादान कोझी वरुथु को अवश्य आजमाना चाहिए। नादान कोझी वरुथु एक तली हुई चिकन है जिसमें काफी मात्रा में मसाले होते हैं और इसे केले के पत्ते पर प्याज, मसाले, लहसुन और सिरका के साथ परोसा जाता है। इसे पोपट्टा, अप्पम या चावल के साथ भी खा सकते हैं। इसके अलावा, यह डोसा के साथ परोसे जाने वाले केरल के व्यंजनों की सूची में एक लोकप्रिय स्ट्रीट फूड भी है।

झींगा करी

यदि आप केरल में हैं और एक नॉन-वेजेटेरियन हैं तो आप झींगा करी को खाए बिना नहीं रहेंगे। केरल का यह पारंपरिक भोजन सभी झींगा प्रेमियों के लिए ज़रूरी है। झींगा करी को नमक और हल्दी के अलावा, मिर्च और काली मिर्च के साथ फ्राई किया जाता है और फिर इसे नारियल के दूध और गुड़ में पकाया जाता है और अंत में इसे करी पत्ते से गार्निश किया जाता है। वास्तव में यह विदेशी समुद्री भोजन स्थानीय लोगों के साथ साथ पर्यटकों को भी खूब पसंद आता है।

नादान बीफ फ्राई

केरल शायद भारत का एकमात्र स्थान है जहाँ आप अभी भी बिना किसी बाधा के बीफ खा सकते हैं। नादान बीफ फ्राई सबसे लोकप्रिय केरल व्यंजनों में से एक है जिसे या तो भुना हुआ या मोटी ग्रेवी में पकाया जाता है। नादान बीफ फ्राई को पोरोटा, चपाती या चावल के साथ परोसे जाने से पहले पूरी तरह पकाया जाता है।

करीमीन पोलीचाथु (फिश)

केरल के सबसे प्रमुख नॉन-वेजेटेरियन खाने में से एक करीमीन पोलीचाथु पर्ल स्पॉट फिश से बना एक व्यंजन है। यह अल्लेप्पी और कुमारकोम के बैकवाटर में आमतौर पर पायी जाने वाली एक धब्बेदार मछली है। अब समृद्ध केरल व्यंजनों का हिस्सा बन गया है। इसे नींबू के रस, लाल मिर्च और अन्य सामग्री के मिश्रण में मछली को मैरीनेट करके तैयार किया जाता है और फिर लिपटी और बेक्ड पत्तियों में पकाया जाता है। इसकी तैयार करने की विदेशी शैली इसे एक बेहतर और अद्वितीय स्वाद देती है जो इसे केरल के सबसे प्रसिद्ध व्यंजनों की सूची में शामिल करती है! जब भी केरल में खाने की

बात आती है तो करीमीन पोलीचाथु को कभी भूला नहीं जा सकता।

फिश मोली नॉन वेजेटेरियन फूड-

फिश मोली केरल के सबसे स्वादिष्ट नॉन-वेजेटेरियन व्यंजनों में से एक है जो केरल के स्थानीय लोगो और पर्यटकों के लिए समान रूप से पसंदीदा बना हुआ है। केरल के अन्य स्वादिष्ट व्यंजनों की तरह इसे भी नारियल के दूध, कोकम और मसालों के साथ तैयार किया जाता है जिसे लोकप्रिय रूप से कुदम्पुली के रूप में भी जाना जाता है। सभी सीफ़ूड प्रेमियों को अपने जीवन में कम से कम एक बार केरला शैली में बनी फिश मोली को अवश्य चखना चाहिए।

थालास्सेरी बिरयानी

केरल में बिरयानी? जी हाँ! यह वास्तव में केरल के सबसे पसंदीदा व्यंजनों में से एक है। केरल में थालास्सेरी बिरयानी जैसी सबसे अप्रतिरोध्य किस्मों की पेशकश की जाती है। थालास्सेरी बिरयानी केरल के उत्तरी शहरों का सबसे प्रमुख व्यंजन है और इसे कामा या बिरयानी चावल, विशिष्ट मसालों , सूखे मेवों और भरवां मास से तैयार किया जाता है। थालास्सेरी बिरयानी को विशेष रूप से केरल के मालाबार क्षेत्र में ईद के उत्सव के दौरान बनाया जाता है और इसे विशेष रूप से दही, चूने के अचार (नारंगा अचार) और सलाद के साथ परोसा जाता है। थालास्सेरी बिरयानी आज केरल के लगभग सभी होटलों और स्टॉलों में तैयार किया जाता है यदि आप केरल घूमने जाने वाले है तो इस बिरयानी को चखना बिल्कुल मिस ना करें।

कल्लुमक्काया उलारथियाथु (मसल्स स्टिर फ्राई)

केरल में समुद्री खाने की किस्मों का कोई अंत नहीं है और उन्ही में से एक कल्लुमक्काया उलारथियाथु केरल के सबसे प्रसिद्ध नॉन-वेज खानों में से एक है। कल्लुमक्काया उलारथियाथु बनाने के लिए पहले मसल्स को अच्छे से साफ किया जाता है और फिर छिले हुए लहसुन, मिर्च, हल्दी, गरम मसाला, और कटे हुए नारियल के साथ पकाया जाता है। उसके बाद इस व्यंजन को कापा या चावल के साथ खाया जाता है।

एराची वरुथार्चा करी

एराची वरुथार्चा करी केरल के सबसे लजीज मांसाहारी डिशों में से एक है। यह केरल का एक पारंपरिक भोजन है जो मुख्य रूप से सीरियाई ईसाई समुदाय के लोगो द्वारा पसंद किया जाता है। लेकिन वर्तमान में यह ईसाई समुदाय के लोगो के साथ साथ पर्यटकों द्वारा भी खूब पसंद किया जा रहा है। बता दें कि एराची वरुथार्चा करी बनाने के लिए पिसे हुए मसाले को भून कर उसे नारियल की ग्रेवी, मटन, प्याज और टमाटर के साथ मिलाकर पकाया जाता है। यकीन मानिए, यदि आप नॉन-वेज की दीवाने हैं तो एराची वरुथार्चा करी को एक बार खाएँगे तो उंगलियाँ चाटने पर मजबूर हो जाएंगे।

यदि आप सोचते हैं की केरल सिर्फ मांसाहारी खाने के लिए पसंदीदा जगह है तो आप बिल्कुल गलत हैं। केरल में मांसाहारी खाने के साथ साथ कई तरह के लोकप्रिय शाकाहारी भोजन भी उपलब्ध हैं जिनका विवरण निम्नलिखित है-

पुट्टू और कडाला करी

पुट्टू और कडाला करी केरल का पारंपरिक भोजन है। पुट्टु एक उबला हुआ चावल का केक है जिसे नारियल के छिलके से पकाया जाता है। यह केरल का एक बेहद लोकप्रिय नाश्ता और मुख्य भोजन है। यह केरल खाद्य पदार्थ आम तौर पर कडाला करी के साथ परोसा जाता है जो मूल रूप से काले छोले के साथ होता है, लेकिन इसे जिस भी तरीके से खाया जाता है इसका स्वाद अच्छा होता है।

अप्पम

केरल के लोकप्रिय खाद्य पदार्थों में से एक अप्पम किण्वित चावल के आटे, नारियल के दूध, नारियल के पानी और चीनी से मिलकर बनता है। अप्पम अनिवार्य रूप से खस्ता किनारों के साथ एक पतली पैनकेक है। यह मूल रूप से एक शाकाहारी व्यंजन है, लेकिन इसे चिकन या मेमने के साथ भी खा सकते हैं। अप्पम स्थानीय लोगों के साथ-साथ पर्यटकों के लिए भी पसंदीदा डिश बनी हुई है और केरल में आने वाला कोई भी पर्यटक इसे चखे बिना रह नही पाता है। यदि आप भी केरल घूमने जाने वाले है तो अप्पम का चखना बिलकुल ना भूलें ।

इडियप्पम विथ करी

केरल के प्रसिद्ध व्यंजनों में से एक इडियप्पम है जिसे स्थानीय रूप से नूलप्पम के रूप में भी जाना जाता है। यह फेमस डिश इडियप्पम, चावल के आटे, नमक और पानी से बना होता है जिसमें कई पतली सेवइयां एक साथ जुड़ी होती हैं। यही सुंदर बनावट इसे आकर्षक और बहुमुखी बनाती है। इडियप्पम को सभी प्रकार की करी के साथ खाया जा सकता है, लेकिन यह एग करी के साथ सबसे ज्यादा स्वादिष्ट लगता है और सबसे अधिक पसंद किया जाता है।

एरीसेरी

एरीसेरी केरल के प्रसिद्ध व्यंजनों में से एक है जो यात्रियों और केरल के स्थानीय लोगों द्वारा खूब पसंद किया जाता है। यह भोजन आमतौर पर नमक, मिर्च या काली मिर्च, सूखे मसूर, क्रश किए हुए नारियल, हल्दी पाउडर, जीरा और लहसुन के साथ थोड़ा मीठा कद्दू उबालकर तैयार किया जाता है, और एक बार पकाये जाने पर चावल पर परोसा जाता है। ओणम जैसे धार्मिक त्योहारों के दौरान इस पकवान को बड़ी मात्रा में और केरल लगभग सभी घरों में बनाया जाता है।

इला सादा

इला सादा केरल के सबसे बेहतरीन भोजन में से एक है जो पारंपरिक केरल व्यंजनों में शामिल है, जिसकी सुगंध आपके मुंह में पानी ला देगी। इला सादा सभी केरल खाद्य पदार्थों का राजा है। इला सादा त्योहारों, शादियों जैसे धार्मिक और औपचारिक अवसरों के दौरान तैयार करके परोसा जाता है। यह व्यंजन 12-20 व्यंजनों के साथ ताजे केले के पत्ते पर परोसा जाता है। केरल का लोकप्रिय त्योहार ओणम इस पारंपरिक भोजन के बिना अधूरा है। यदि इला सादा के बारे में जानकार आपके मुह में पानी आ रहा है तो इस व्यंजन का केरल की यात्रा करके लुफ्त अवश्य उठाएं।

डोसा घी रोस्ट विद् सांभर

केरल राज्य जितना अपने मासाहारी भोजन के लिए प्रसिद्ध है, उतना ही यह अपने डोसा सांभर के लिए भी लोकप्रिय है। डोसा सांभर विश्व के 50 सबसे स्वादिष्ट खाद्य पदार्थों में शुमार है। चावल के आटे और दाल से बना डोसा पहले शुद्ध घी में पकाया जाता है, और फिर इसे कुरकुरा होने तक भूना जाता है। इस बात में कोई संदेह नही है कि यह केरल के सबसे लोकप्रिय और पसंदीदा खाने में से एक है। डोसा सांभर केरल घूमने वाले सभी पर्यटकों, विशेषकर शाकाहारी पर्यटकों के लिए पहली पसंद बना हुआ है।

इडली सांभर

इडली सांभर केरल में सबसे अच्छे खाद्य पदार्थों में से एक है जो नाश्ते के लिए जाना जाता है और केरल में सबसे अच्छा भोजन भी है। शायद केरल का सबसे प्रसिद्ध भोजन इडली सांभर केरल के सभी घरों में ही नहीं बल्कि भारत में हर जगह जमकर खाया जाता है। इडली सांभर पिसे हुए चावल के आटे से तैयार की जाती है जिसे स्वादिष्ट मसालेदार सब्जियों की करी के साथ खाया जाता है, जबकि केरल में इसे नारियल की चटनी के साथ भी खाया जाता है। वैसे तो इडली सांभर पूरे भारत में किसी भी स्थान पर खाया जा सकता है लेकिन यदि आपको सबसे अलग और स्वादिष्ट इडली सांभर का मजा लेना है तो वो आपको केरल के अलावा अन्य किसी स्थान पर नही मिल सकता।

मालाबार पैरोटा

मालाबार पैरोटा मालाबार क्षेत्र का एक प्रसिद्ध व्यंजन है। इस बात दे मालाबार पैरोटा खस्ता से तैयार किया जाता है जो टेढ़ा और परतदार होता है। मालाबार पैरोटा इतना नरम और कुरकुरा होता है मुँह में जाते ही पिघल जाता है और इसका टेस्ट खट्टा मीठा होता है। मालाबार पैरोटा बड़ों से लेकर बुजुर्गों तक सभी आयु वर्ग के लिए पसंदीदा बना हुआ है जिसका पर्यटकों द्वारा भी खूब लुफ्त उठाया जाता है।

केरल की लोकप्रिय मिठाइयाँ व अन्य व्यंजन

केरल अपने मांसाहारी और शाकाहारी व्यंजनों के साथ – साथ स्वादिष्ट मिठायों के लिए भी जाना जाता है, जिनके बारे में सुनकर ही पर्यटकों के मुँह में पानी आ जाएगा। निम्नलिखित प्रकार की मिठाइयों का प्रचलन है-

पालदा पायसम

पालदा पायसम केरल की पारंपरिक मिठाई है और केरल के सबसे स्वादिष्ट मीठे व्यंजनों में से एक है। पालदा पायसम मीठे चावल की खीर है जिसे पालदा के साथ तैयार किया जाता है। यह मिठाई विशेषकर ओणम या किसी अन्य त्योहार के दौरान बनाई जाती है जो त्योहारों में अपनी तरह की मिठास घोल देती है। पायसम का कई किस्मों में बनाया जाता है, लेकिन पालदा पायसम सबसे लोकप्रिय है जिसे चावल, दूध, चीनी और घी जैसी बुनियादी सामग्रियों से बनाया जाता है। पालदा पायसम विभिन्न त्योहारों के साथ-साथ लगभग केरल के सभी घरों और होटलों में भी तैयार की जाती है।

अडा प्रथमन

अडा प्रथमन केरल का सबसे लोकप्रिय मीठा व्यंजन है जिसे केरल में खीर का राजा भी माना जाता है। एक गर्म और सुखद सुगंध के साथ, यह पेसम या खीर गाढ़े नारियल के दूध, गुड़ और बेक्ड राइस अडा के एक अनूठे मिश्रण से मिलकर तैयार होती है। अडा प्रथमन को प्रमुखतः त्यौहारों और समारोहों में मिठाई के रूप में परोसा जाता है। यह केरल में भोजन की सूची में पसंदीदा मिठाई है जिसे पर्यटकों द्वारा भी खूब पसंद किया जाता है।

चट्टी पाथरी

इटैलियन डिश लसगना की समानता के लिए चट्टी पाथरी को ज्यादातर उत्तरी मालाबार क्षेत्र में तैयार किया जाता है। यह मिठाई आटे, अंडे और तेल से बनी होती जोकि मीठा डालकर खाई जाती है और विशेष रूप से इलायची और अन्य मसालों के साथ-साथ नट्स और ड्राई फ्रूट्स के साथ बनाई जाती है। चट्टी पाथरी मालाबार क्षेत्र और केरल के लगभग सभी घरों में खास मोकों पर और रमजान के उपवास की अवधि में भी तैयार की जाती है।

वेश भूषा

केरल की महिलाएँ साड़ी और ब्लाउज पहनती हैं। त्योहारों के दौरान वेकसावा साड़ी पहनी जाती है जिसे मेडम नेरियथम के नाम से जाना जाता है। पुरुष लोग मुंडू पहनते हैं जो कि केरल राज्य की एक पारंपरिक पोषाक है। जिसे धोती भी कह सकते हैं, युवा पीढ़ी ज्यादातर पश्चिमी कपड़े पहनती है।

केरल के प्रसिध्द पर्व ओणम और विषू

ओणम का त्योहार केरल में अगस्त से सितंबर तक मनाया जाने वाला 10-दिवसीय फसल उत्सव है। यह बड़े धूमधाम के साथ मनाया जाता है। लोगों के लिए मेले और प्रतियोगिताएँ आयोजित की जाती हैं। फर्श को फूलों के डिजाइन से सजाया जाता है। जश्न मनाने के लिए नृत्य किए जाते हैं ओणम का दस वांया अंतिम दिन सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है और इसे केरल संस्कृति की सबसे लोकप्रिय अभिव्यक्तियों में से एक माना जाता है। विषू पर्व केरल में मलयालम कलेंडर के पहले महीने 'मेदम' के पहले दिन मनाया जाता है। इसी दिन से मलयालम नववर्ष की शुरुआत होती है। ज्यादातर ये त्योहार अप्रैल माह य के मध्य में 14 या 15 अप्रैल को मनाया जाता है।

केरल की गतिविधियाँ

प्रारंभ में, केरल के निवासी कृषि गतिविधियों में शामिल थे। इसके अलावा, कुछ मछली पकड़ने और पशुपालन में भी शामिल थे। इन वर्षों में केरलवासियों ने शहरों में एक अच्छी शिक्षा और कार्य प्राप्त किया है। हालांकि, अधिकांश कुशल श्रमिक और कॉलेज स्नातक केरल छोड़कर विदेश जाते हैं, खासकर मध्य पूर्व में। इससे आपूर्ति में कमी आई और महंगाई बढ़ी।

हाथियों का महत्व

केरल का राज्य पशु एक हाथी है। ये जानवर संस्कृति का एक अभिन्न हिस्सा हैं। वे मंदिरों के बाहर सभी धार्मिक छुट्टियों के दौरान

पाए जाते हैं। हाथियों को" शैया के पुत्र "के रूप में जाना जाता है, और केरल सरकार के प्रतीक पर भी अंकित हैं।

आधुनिक समाज

भारत में केरल राज्य की साक्षरता और शिक्षा दर सबसे अधिक है। 2011 की जनगणना के अनुसार, लिंगानुपात भी अनुकूल है 1084 (प्रति1084 पुरुषों पर 1000 महिलाएं (।केरल में उच्चतम मानव विकास सूचकांक 0,712 (2015 में (और भारत में सबसे कम सकारात्मक जनसंख्या वृद्धि दर 3,44% है। राज्य कृषि में अच्छा कर रहा है। प्रौद्योगिकी के सुधार के साथ, विचारों की रिहाई, एक व्यापक दृष्टिकोण में सुधार जारी है।

पर्यटन

केरल अपने मंदिरों, कारखानों, संस्कृति और कई अन्य चीजों के लिए प्रसिद्ध है। पर्यटन उद्योग 2000 के दशक की शुरुआत से ही संपन्न है। सरकार ने इसे सक्रिय रूप से बढ़ावा दिया और इसे" भगवान का अपना देश "कहा। गहन विज्ञापन की मदद से, यह पर्यटन उद्योग को विकसित करने में सक्षम था। विज्ञापन अभियान इतना सफल था कि यह ग्राहकों के मन में "उच्चतम ब्रांडरिकॉल "वाली जगहों में से एक था। केरल अपने पर्यटकों के लिए एक बहुत ही आकर्षक राज्य है और सभी को इस स्वर्ग की यात्रा करनी चाहिए!

भाषा

केरल की भाषा मलयालम है जो द्रविड़ परिवार की भाषाओं में एक है। मलयालम भाषा के उद्गम के बारे में अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए हैं। एक मत यह है कि भौगोलिक कारणों से किसी आदी द्रविड़ भाषा से मलयालम एक स्वतंत्र भाषा के रूप में विकसित हुई। इसके विपरीत दूसरा मत यह है कि मलयालम तमिल से व्युत्पन्न भाषा है।

केरल का रहन सहन

केरल के लोगों का रहन सहन भारत के अन्य राज्यों से थोड़ा भिन्न है। यहाँ के लोग पक्के मकानों में रहते हैं। लोगों के आय का मुख्य स्रोत खेती है। यहाँ मसालो की खेती, चाय, नारियल, रबड़ और समुद्र से मछली पकड़ना प्रमुख व्यवसाय है।

निष्कर्ष

केरल की संस्कृति पिछले सदियों में विकसित हुई है जो भारत और विदेशों के अन्य हिस्सों से प्रभावित है। यह अपनी प्राचीनता और मलयाली लोगों द्वारा संघटनात्मक निरंतरता द्वारा परिभाषित की जाती है। शास्त्रीय पुरातनता से भारत और विदेशों के विभिन्न हिस्सों से पलायन कर आये लोगो के कारण आधुनिक केरल समाज ने आकार लिया है।

केरल की गैर-प्रागैतिहासिक सांस्कृति का संबंध तीसरी शताब्दी के आसपास, एक विशिष्ट रूप से ऐतिहासिक क्षेत्र से है, जिसे थंबीजोम कहा जाता है जो एक आम तमिल संस्कृति वाला क्षेत्र है, जहां चेरा, चोल और पंड्या राजवंशों का उत्थान हुआ। उस समय केरल में पाया जाने वाला संगीत, नृत्य, भाषा (पहली द्रविड़ भाषा - "द्रविड़ भाषा"- तत्कालीन तमिल) और संगम (1,500-2,000 साल पहले रचा गया तमिल साहित्य का एक विशाल कोष) थंबीजोम (आज का तमिलनाडु) के बाकी हिस्सों के समान ही था। केरल की संस्कृति द्रविड़ लोकाचार के संस्कृतकरण, धार्मिक आंदोलनों के पुनरुत्थान और जातिगत भेदभाव के खिलाफ सुधार आंदोलनों के माध्यम से विकसित हुई। केरल एक ऐसी संस्कृति को दर्शाता है जो सभ्य जीवन शैली के विभिन्न संकायों के आवास, उच्चारण और आत्मसात् के माध्यम से विकसित हुई है।

केरल के सांस्कृतिक जीवन में महत्वपूर्ण योगदान देने वाले कला रूपों में लोककलाओं, अनुष्ठान कलाओं और मंदिर कलाओं से लेकर आधुनिक कला रूपों तक की भूमिका उल्लेखनीय है।

******

गुरुनानक देव जी का सबसे बड़ा संदेश

गुरु नानक जी ने कहा है-

सोचै सोचि न होवई जो सोचि लखवार।

चुपै चुप न होवई जे लाइ रहा लिव तार।।

अर्थात् – ईश्वर का रहस्य सिर्फ सोचने से नहीं जाना जा सकता है। इसलिए नाम जपें। नाम यानी ईश्वर का नाम बार-बार सुनना और दोहराना चाहिए। जप से चित्त एकाग्र हो जाता है और आध्यात्मिक एवं आत्मिक शक्ति मिलती है। मनुष्य का तेज बढ़ जाता है। सच्चा साधक वह है जो अच्छे काम करता हुआ खुदा-भगवान को हमेशा याद रखता है। हर घड़ी, सर्वत्र अकाल पुरख की उपस्थिति का अनुभव कीजिए। ईश्वर के नाम का जप एवं ध्यान कीजिए। एको नाम हुकुम है सतगुरु दीया बुझाई जियो'

अर्थात् भगवान के नाम पर सतत् चिंतन करना भगवान की ही आज्ञा है। अपना जीवन यापन ईमानदारी से कीजिए एवं परिश्रम और कर्तव्यनिष्ठा से धन कमाइए। उदार बनिए एवं आपके पास जो कुछ है उसे लोगों के साथ बांटकर खाइए जिन्हें इसकी आवश्यकता है। पराए धन की लालसा और परनिंदा नहीं करनी चाहिए।

इंटरनेट पर सजती हैं संस्कृति की चौपाल !

डॉ. एम.एल. गुप्ता 'आदित्य'
निदेशक, वैश्विक हिंदी सम्मेलन, मुंबई

संस्कृति की बात आते ही हमारे मन मस्तिष्क में जो चित्र उभरते हैं, उनमें विभिन्न काल-खंडों में नृत्य, गीत-संगीत के विभिन्न कार्यक्रम गाँवों की चौपालों से लेकर बड़े-बड़े सांस्कृतिक मंचों तक रहे हैं। तरह-तरह के रंग-बिरंगे परिधानों में सजे लोक-कलाकार तथा तबले, ढोलक की थाप और हारमोनियम, वीणा और मृदंग आदि की तान पर थिरकते स्त्री-पुरुष और झूमते दर्शक। विभिन्न पर्व-त्योहारों पर विशेष वेशभूषा में सजे-धजे लोग। धार्मिक सांस्कृतिक गीत तथा भजन व कीर्तन। विशेष अवसरों पर महिलाओं द्वारा शादी-विवाह और अन्य सामाजिक अवसरों पर गाए जाने वाले गीत। गीतों-गजलों की संगीतमयी शाम। मुशायरे और कवि सम्मेलनों आदि में तालियों की गड़गड़ाहट। होली आदि के मौके पर रंगों में सराबोर लोक गीतों पर झूमते स्त्री-पुरुष अभी तक ये सब दृश्य हमारी सांस्कृतिक पहचान के बिंब रहे हैं।

गाँवों के स्वांग, नौटंकी, रामलीला, मेले और त्योहारों व पर्व आदि पर होने वाले विभिन्न सांस्कृतिक आयोजन और गाँवों की चौपाल आदि ऐसे मंच रहे हैं जिनके माध्यम से संस्कृति अपने विभिन्न रंगों के साथ निरंतर आगे बढ़ती रही है। आधुनिक शहरी वातावरण में पुराने समय के अनेक मंच धीरे धीरे धराशायी होते गए। आगे चल कर सिनेमा और रेडियो संस्कृति के प्रमुख वाहक बने। फिर धीरे धीरे रेडियो को मीलों पीछे छोड़ते हुए टेलीविजन मनोरंजन के क्षेत्र में अपना आधिपत्य बनाते हुए संस्कृति का सशक्त वाहक बनता गया। क्षेत्रीय चैनलों के आगमन ने लोक-संस्कृति को जन-जन तक पहुंचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके अतिरिक्त इनके साथ-साथ शहरों में साहित्य-सम्मेलन व संगोष्ठियाँ और व्यावसायिक कवि सम्मेलन व कार्यक्रम आदि भी इसमें जुड़ते गए। इसके साथ ही इनका विकृत रूप भी सामने आया। शहरों में कवि सम्मेलनों में विशेषकर हास्य कवि सम्मेलन के नाम पर तालियाँ बटोरने के लिए कविता के बजाए पैरोडी, मिमिक्री फूहड़ जुमले, चोरी की कविताओं और चुटकुलों का खासा बाजार खड़ा होता गया। सिनेमा व टेलीविजन में संस्कृति के साथ वह भी शामिल होता गया जिसे अपसंस्कृति कहा जाता है। लेकिन राज्यों के दिवस, क्षेत्रीय पर्व आदि पर आयोजित सास्कृतिक कार्यक्रम आज भी लोगों को लोक-संस्कृति का आस्वादन करवाते हैं। आज भी काव्य गोष्ठियों और कवि सम्मेलनों में स्तरीय साहित्य का आस्वादन भी होता है।

लेकिन वक्त के साथ-साथ चीजें तेजी से बदलीं और इक्कीसवीं सदी के आगमन के साथ– साथ सूचना-प्रौद्योगिकी की प्रगति की द्रुतगति ने दुनिया को भौंचक्का कर दिया। परंपरागत कार्यक्रमों और रेडियो, टी.वी., सिनेमा आदि माध्यमों को चुनौती देते हुए इंटरनेट नामक एक वैश्विक मंच अवतरित हो गया। इस अंतरजाल यानी इंटरनेट के जाल का निरंतर विकास होता गया और इसकी शक्ति और गति तेजी से बढ़ती जा रही है। यह अंतरजाल का जाल लगातार बढ़ते हुए नित अपने नए-नए मायावी से लगने वाले रूपों को भी प्रस्तुत कर रहा है। ई-मेल, वैबसाइट, ब्लॉग, सोशल मीडिया और इनके अनेक रूप-प्रकार हमारी जिंदगी का अहम हिस्सा बनते जा रहे हैं। अंतरजाल यानि इंटरनेट ने देखते ही देखते ज्यादातर दुनिया को अपने मायाजाल में ले लिया है। पूरी दुनिया की व्यवस्था, अर्थव्यवस्था, सुरक्षा, ज्ञान-विज्ञान, संचार– सेवाएँ, मनोरंजन, सूचनातंत्र, व्यापार-व्यवसाय और कला-साहित्य से लेकर अपराध जगत, धर्म और अधर्म, पाप-पुण्य आदि सभी कुछ इस अंतरजाल के दायरे में है। पलक झपकते ही करोड़ों संदेश दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने में पहुंच जाते हैं। सबसे बड़ी बात यह कि कल तक उच्च वर्ग की बपौती से दिखने वाले इस जाल ने मोबइल के माध्यम से समाज के सबसे निचले पायदान पर खड़े व्यक्ति तक अच्छी-खासी पैठ बना ली है। संस्कृति के वाहक के रूप में भी अब इंटरनेट एक महत्वपूर्ण माध्यम बनता गया है।

नवीनतम आंकड़ों के अनुसार विश्व में इंटरनेट का प्रयोग करनेवालों की संख्या 2022 में 4.95 अरब है, जबकि विश्व की जनसंख्या लगभग 7.91अरब है। दुनिया के इस प्रबलतम संचार माध्यम से दुनिया का समग्र ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, व्यापार-व्यवसाय, रक्षा-सुरक्षा व तमाम आर्थिक गतिविधियों और विभिन्न प्रणालियाँ इंटरनेट से जुड़ चुकी हैं या जुड़ रही हैं। 1991 तक एक भी वैबसाइट नहीं थी लेकिन 2022 में इनकी संख्या 1.92 अरब से अधिक है। जो दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है। हालाँकि इनमें ऐसी भी बहुत हैं जो असक्रिय हैं और जिन्हें कोई नहीं देखता।

भारत में 2010 तक करीब 1 करोड़ लोग इंटरनेट का प्रयोग करते थे। फिर उसके बाद इसने जो गति पकड़ी तो मात्र 18 महीनों में इसमें 10 करोड़ का इज़ाफा हो गया । भारत के लोग अब तेजी से अंतरजाल यानी इंटरनेट के जाल से जुड़ रहे हैं। लगभग हर महीने 50 लाख से ज्यादा नए लोग इसमें शामिल हो रहे हैं। 2022 में भारत में इंटरनेट का प्रयोग करने वालों की संख्या 65.08 करोड़ को पार कर रही है। यानी भारत की ज्यादातर आबादी इंटरनेट पर है। कहा जाता है कि संस्कृति भाषा रूपी नदी के साथ रहकर निरंतर आगे बढ़ती और विकसित होती है। अब संस्कृति ने अपने बहाव का एक

नया और बहुत ही प्रभावी आकाशीय माध्यम ढूंढ लिया है, यह माध्यम है, इंटरनेट।

ई-मेल के गलियारों से आगे बढ़कर जब सोशल मीडिया के रूप में जब इंटरनेट ने अपने पाँव पसारने शुरु किए तो यह एक वैकल्पिक मीडिया के रूप में भी उभर कर आया। इंटरनेट ने सोशल मीडिया के रूप में दुनिया को एक ऐसा सशक्त माध्यम दिया है जो किसी समय और स्थान की सीमा में बंधा नहीं है। जो सर्वसुलभ है और जिसमें सभी के लिए समान अवसर हैं। सोशल मीडिया के इस माध्यम ने राज्यों और राष्ट्रों की दीवारों को गिराकर सार्वभौमिकता और वसुधैव कुटंबकम की अवधारणा को चरितार्थ कर दिया है। तमाम जातियों, धर्मों, क्षेत्रों के अमीर-गरीब और सामान्य एवं विशिष्ट जन इंटरनेट पर सजी सोशल मीडिया की सार्वभौमिक चौपालों में एक साथ दिखाई देते हैं। इंटरनेट ने सोशल मीडिया के जरिए जहाँ एक ओर दुनिया के विभिन्न हिस्सों में बैठे लोगों को आमने – सामने बैठा दिया है तो वहीं दूसरी ओर मोबाइल के जरिए व्हाट्सएप व फेसबुक में उलझे और आमने-सामने बैठे लोगों को दूर भी कर दिया है।

अगर सोशल साइट्स प्लेटफॉर्म की बात की जाए तो इसमें फ़ेसबुक बाकी सबसे काफी आगे है जिस पर करीब 2.9। अरब लोग हैं। इसके बाद यू ट्यूब पर 2.56 अरब, व्हाट्सैप पर 2 अरब तथा इंस्टाग्राम पर 1,48 अरब लोग हैं। फेस बुक के प्रयोग में भारत विश्व में दूसरे स्थान पर है।एक सर्वेक्षण के अनुसार वेबसाइटों पर 40% से ज्यादा ट्रैफिक सोशल मीडिया साइटों खासकर फेसबुक के माध्यम से होता है। कई बड़ी वेवसाइटों का भी यही मानना है कि उनकी खबरों को ज्यादातर हिट्स फेसबुक आदि के माध्यम से मिलते है। ऐसा इसलिए कि स्थानीय भाषाओं का कन्टेंट आसानी से सोशल मीडिया साइट्स पर शेयर किया जाता है। भारत में इंटरनेट का प्रयोग करने वाले करीब 75% लोग फ़ेसबुक. ट्वीटर, लिंक्डइन, यू ट्यूब आदि किसी न किसी सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म से जुड़ते हैं और अपने मित्रों, रिश्तेदारों और समाज के विभिन्न लोगों के साथ चैट यानि सीधे बातचीत, संदेश. तस्वीरें और वीडियो या विचारों आदि का आदान-प्रदान करते हैं। इस प्रकार भारतवासी प्रतिदिन औसतन अलग-अलग सोशल मीडिया नेटवर्क और मोबाइल ऐप्स पर करीब 200 मिनिट प्रतिदिन खर्च करते हैं। भारत में सोशल मीडिया से जुड़ने वालों की संख्या 46 करोड़से अधिक है। भारत में सोशल मीडिया पर अब व्हाट्सएप अत्यधिक लोकप्रिय है। व्हाट्सएप पर प्रति सैकेंड करीब सात लाख चालीस हजार संदेश भेजे जाते हैं और यू-ट्यूब पर प्रतिदिन करीब एक अरब घंटे के वीडियो देखे जाते हैं। इन आंकड़ों से इंटरनेट की शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। और यह संख्या हर दिन और हर मिनट के साथ निरंतर बढ़ती जा रही है।

अगर भाषा-साहित्य की बात करें तो कुछ समय पूर्व तक यह पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों के अतिरिक्त सम्मेलनों और संगोष्ठियों तक सीमित था। गिने-चुने स्थापित साहित्यकारों व विद्वानों की ही पहुँच इन मंचों तक थी। हर कोई इन मंचों तक पहुंच नहीं पाता था। पत्र-पत्रिकाओं मे छपने का अवसर भी सबको नहीं मिल पाता था। इसलिए ऐसे अनेक लोग जो कविता, कहानी, संस्मरण आदि लिख सकते थे वे अक्सर प्रकाश में नहीं आते थे। लेकिन अब वे भी सोशल मीडिया पर खुलकर अपनी प्रतिभा का परिचय दे रहे हैं और अपनी रचनाओं को अपलोड कर रहे हैं। सोशल मीडिया एक ऐसा महासागर है जहाँ चौबीसों घंटे साहित्य-प्रेमी साहित्य का रसास्वादन कर रहे हैं। श्रव्य-दृश्य सुविधाओं से लैस होने के चलते ई-कविता पाठ और ई-संगोष्ठी के रूप में कवि सम्मेलनों और संगोष्ठियों के विकल्प के रूप में सामने आया है। सोशल मीडिया के कारण अब अपनी रचनाओं को पाठकों तक पहुंचाने के लिए आर्थिक सीमाएँ व प्रकाशकों पर निर्भरता समाप्त हो रही है। दूसरी ओर अल्मारियों में रखी और अक्सर धूल खाती पुस्तकों से निकलकर साहित्य इलैक्ट्रॉनिक तरंगों के रथ पर सवार हो कर देश-दुनिया के कोने-कोने में पहुंच रहा है। वे लोग जिन्हें कविता पाठ करने का शौक है, वे अपने वीडियो बनाकर सोशल मीडिया पर अपलोड कर देते हैं जिससे अब वे सोशल मीडिया के मंच पर जन-जन तक पहुँच रहे हैं। यही नहीं सोशल मीडिया की पहुँच और लोकप्रियता के चलते स्थापित साहित्यकार भी अब सोशल मीडिया पर अपनी पहचान बनाने में लगे हैं। इनमें से सर्वाधिक सक्रियता दिखती है सोशल मीडिया समूहों पर जिसमें फ़ेसबुक, व्हाट्सऐप और गूगल समूह प्रमुख हैं। सोशल मीडिया की अन्तहीन चौपालों पर अब दुनिया के कोने-कोने के रचनाकार व साहित्य-प्रेमी घंटों साथ गुजारते हैं। जिसके चलते विभिन्न भाषाओं के साहित्य के साथ-साथ हिंदी का साहित्य भी सार्वभौमिक होता जा रहा है। सोशल मीडिया पर भाषा–साहित्य की हर हलचल की पल-पल की खबर, शिकवे-शिकायत, पसंद-नापसंद तथा वाह! से आह! और तालियों से गालियों तक तत्काल ऑन लाइन उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त हिंदी भाषा-साहित्य की वैबसाइट, ब्लॉग, ऑनलाइन पत्रिकाएँ, वेब पत्रिकाएँ, ऑनलाइन वैबपोर्टल आदि भी उपलब्ध हैं। कुछ वर्ष पूर्व तक क्षेत्र या देश विशेष के साहित्य की जो एक खास पहचान होती थी अब वह धीरे धीरे वैश्विक रंगत लाने लगी है।

भाषा-साहित्य के सम्मेलनों-संगोष्ठियों के आयोजनों पर होने वाले खर्च और लगने वाले समय के कारण ज्यादातर कार्यक्रम प्रतिभागियों की कमी से जूझते-दिखते हैं। 'वैश्विक हिंदी सम्मेलन' संस्था द्वारा इन तमाम समस्याओं का समाधान अब इंटरनेट पर खोज लिया गया है। 'वैश्विक हिंदी सम्मेलन' जिसमें देश-विदेश के ग्यारह हजार से अधिक भारतीय भाषा-प्रेमी जुड़े हैं, द्वारा एक अभिनव प्रयोग करते हुए अपने

गूगल समूह नामक इंटरनेट की चौपाल पर ईमेल संदेशों के माध्यम सेई-संगोष्ठियों का आयोजन किया जाता रहा है जिसमें देश-विदेश के हजारों लोग प्रतिभागी के रूप में भाग लेते हैं, अनेक लोग अपने विचार रखते हैं वह भी अपनी सुविधा से और अपने समय पर। न आयोजकों का खर्च, न वक्ताओं का, और नहीं श्रोताओं का। एक ही विषय पर एक ही समय में दुनिया के विभिन्न हिस्सों में बैठे हुए विद्वान और सामान्य जन लोग ई-संगोष्ठियों में खुलकर विचार विमर्श करते हैं, अपने पक्ष रखते हैं, तर्क-वितर्क भी करते हैं और आलोचना भी। सामान्य संगोष्ठियों में समय की सीमाओं के चलते स्थापित और नामचीन लोगों को ही अपनी बात रखने का अवसर मिल पाता है, इनमें नामचीन भी होते हैं और गुमनाम भी। किश्तों में किसी एक विषय पर कई बार तो परिचर्चा कई हफ्तों तक भी चलती है। बिना खर्च के 'वैश्विक संगोष्ठी' और ' वैश्विक सम्मेलन' जिसमें हजारों लोग भाग लें, और वह निशुल्क। यह इंटरनेट के जाल का ही कमाल है। इंटरनेट का मंच अब किसी गली-मोहल्ले या शहर का नहीं बल्कि एक वैश्विक मंच है जहाँ उनकी रचना दुनिया भर के पाठकों तक पहुंच सकती है।

यही स्थिति गायन और नृत्य के साथ भी है। हिंदी के तमाम पुराने फिल्मी गीत और उनके वीडियो आदि गूगल और दूसरे सर्च इंजिनों पर क्लिक करते ही तमाम वैबसाइट सामने आ जाएँगी और आप अपने मनपसंद गीत-नृत्य को देख पाएँगे। आप फिस्मी गीतों की ऑनलाइन अंत्याक्षरी में शामिल हो सकते हैं। गांवों में होने वाले लोकगीत संगीत और नृत्य के कार्यक्रम जो शहरों में कम ही देखने को मिलते हैं लेकिन अब इंटरनेट के जमाने में उन्होंने इंटरनेट पर अपनी संस्कृति की चौपालें में जमा ली है। अब सोशल मीडिया यू ट्यूब और इस प्रकार की वेबसाइट के माध्यम से भारत के शहरों में ही नहीं विश्व भर में देखे सुने जा रहे हैं। लोकगीत-संगीत का आनन्द लेने के लिए भी ब्लॉग, वेबसाइट, फेसबुक पेज, आदि सब उपलब्ध है। राज्यों के नाम के साथ सर्च करने पर इंटरनेट आपको अपेक्षित राज्य की संस्कृति के दर्शन करवा देगा। यू ट्यूब पर भी आपको गाँव –देहात में आयोजित होने वाले लोक-संस्कृति के अनेक कार्यक्रम मिल जाएँगे। व्हाट्सऐप और फेसबुक आदि के माध्यम से इनके समूहों पर ऐसे कार्यक्रमों की भरमार है। अनेक लोग अपने या अपने परिजनों के नृत्य व गायन के वीडियो इन पर डालते हैं और कई बार उन्हें इतनी लोकप्रियता मिलती है कि कोई मंच उन्हें कभी न दे पाता। कुछ लोगों के नृत्य, गीत, संगीत आदि के वीडियो सोशल मीडिया पर ऐसे वायरल हो जाते हैं कि कि वे रातों-रात स्टार बन जाते हैं।

अब तो कुछ ऐसी भी प्रणालियां बाजार में आ गई है कि युगल गीत में एक गायक पहले से संगीत के साथ मौजूद होता है और उसके साथ सुर में सुर मिला कर आप अपने गीत प्रस्तुत कर सकते हैं। मेरे बचपन की एक मित्र

जिसने अपने बचपन या युवावस्था में कभी गली मोहल्ले के यह सामाजिक कार्यक्रम में गाना नहीं गाया अब नानी बनने के बाद सॉफ्टवेयर प्रणाली के माध्यम से अपने गाने गा कर अपलोड करती है। अब तो लोग शादी-विवाह जैसे आयोजनों की रस्म और गीत-नृत्य भी इंटरनेट से लेने लगे हैं। इस प्रकार लोक-संस्कृति शहरी लोगों तक भी पहुंच रही है।

विदेशों में भारतवंशियों में हिंदी सिनेमा का गीत-संगीत खासा लोकप्रिय है। भारतवंशियों में तो हिंदी सिनेमा का गीत-संगीत भारतवासियों की तरह, या उससे भी कुछ ज्यादा लोकप्रिय है। कई बार हिंदी फिल्मों के पुराने सदाबहार गीतों से लेकर आधुनिक संगीत के नवीनतम गीत समय-समय पर मुझे दक्षिण अफ्रीका की भारतवंशी बहन शर्मीला शीतल से प्राप्त होते रहे हैं। सोशल मीडिया के माध्यम से वे यहाँ के परिधानों सं ले कर, गीत-संगीत आदि का अनुकरण करते हैं। मैंने भारत में कभी साड़ी महोत्सव नहीं सुना लेकिन सोशल मीडिया के माध्यम से हमने देखा कि भारतवंशी और उनके साथ दक्षिण अफ्रीका के अनेक भारतवंशी वहाँ 'साड़ी महोत्सव' का आयोजन करते हैं और उसमें बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेते हैं। साथ ही सोशल मीडिया के माध्यम से उसका प्रचार-प्रसार भी करते हैं।

विकिपीडिया और इस प्रकार के ज्ञानकोश भा भारतीय साहित्य संस्कृति आदि को आगे बढ़ाने का माध्यम बन रहे हैं जहां एक क्लिक पर तमाम तरह की जानकारियाँ प्राप्त हो जाती हैं। भारतीय लोक परंपरा से जुड़े विभिन्न प्रकार के आभूषणों की झलक देखनी हो, उनके बारे में समझना हो, प्राकृतिक रंगों से बने प्राचीन चित्रों और उनकी शैली को देखना समझना हो, इसके लिए किसी प्रदर्शनी में जाने की आवश्यकता नहीं है। गूगल या किसी अन्य सर्च इंजन पर जा कर तलाशेंगे तो एक नहीं कई प्रदर्शनियाँ आपको दिख जाएँगी। यही नहीं वहां किसी गाइड की की आवश्यकता नहीं है, उनके साथ साथ तमाम जानकारियां लिखी हुई सामने आ जाएँगी। हो सकता है यू-ट्यूब पर उसकी पूरी जानकारी वीडियो में भी आपको मिल जाए। फ़ेस बुक पर भी ऐसे पेज मिल जाएंगे जहाँ सचित्र पूरा विवरण आपको मिल जाएगा। और यदि आपको इनमें से कुछ खरीदना हो तो ऑनलाइन दुकानें भी उपलब्ध हैं, जो चाहिए घर बैठे मिल जाएगा। यही नहीं एक बार आप इन तक पहुँचे नहीं, फिर तो ये ऑनलाइन दुकानदार स्वयं ही अपने धंधे के लिए आपके पीछे पड़ जाएँगे।

कई देशों में अपनी संस्कृति को आगे बढ़ाने के लिए अपने सोशल मीडिया के मंच भारत के लिए हिंदी में तैयार किए हैं। कई वर्ष पूर्व इज़रायल ने भी अपना फेस बुक पेज हिंदी में बनाया है, जिसपर बहुत सारी सामग्री हिंदी में प्रस्तुत की जाती है। इसी प्रकार अन्य देशों तक अपनी संस्कृति पहुंचाने के लिए हमारे पर्यटन एवं संस्कृति विभागों को भी अपने पुराने तौर-

तरीकों के साथ-साथ अब इंटरनेट और उससे जुड़े सोशल मीडिया पर अपनी प्रदर्शनियाँ लगानी चाहिए और भारत की समृद्ध प्राचीन संस्कृति को देश के साथ-साथ उनकी भाषाओं के माध्यम से विदेशों में भी पहुंचाना चाहिए। इंटरनेट और सोशल मीडिया की दुनिया में अभी भी अपार संभावनाएं हैं। यदि इन्हें सही प्रकार इस्तेमाल में लाया जाए तो संस्कृति को आगे बढ़ाने में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है।

कोरोना काल को सांस्कृतिक-साहित्यिक आयोजनों के डिजिटिलीकरण में विशेष रूप से जाना जाएगा। कोरोना संक्रमण के भयावह वातावरण में जब कला, साहित्य – संस्कृति सहित जनसंप्रेषण के के सभी मंच पूरी तरह बंद थे तब सूचना-प्रौद्योगिकी ने सन्नाटे को चीरने के लिए और लोगों को परस्पर जोड़ने के लिए कई ऐसे वैश्विक मंच उपलब्ध करवाए जिन्होंने संस्कृति और संवाद के परंपरागत मंचों को पछाड़ते हुए अपनी स्थायी जगह बना ली। ज़ूम, गूगल मीट, वैबैक्स, माइक्रोसॉफ्ट टीम, फ़ेस बुक लाइव आदि के माध्यम से देश दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में बैठे लेखक, साहित्यकार, कलाकारों को जोड़ कर भाषा, साहित्य, संस्कृति से जुड़े कार्यक्रम इतने बड़े पैमाने पर होने लगे हैं, जितने बड़े पैमाने पर वास्तविक स्तर पर सोचा भी नहीं जा सकता। अनेक संस्थाएँ साप्ताहिक तौर पर संगोष्ठियाँ, कवि सम्मेलन तथा साहित्यिक-सांस्कृतिक विषयों पर परिचर्चा, विमर्श आदि का आयोजन करती हैं जिसमें दूरस्थ स्थानों पर बैठे साहित्य कलाकर्मी भाग लेते हैं। कई संस्थाएँ प्रतिदिन किसी कवि का एकल पाठ रखती हैं। कोरोनाकाल ने लोगों को सोशल मीडिया व इलैक्ट्रनिक माध्यमों से जोड़ने में भी खासी भूमिका निभाई। नवीनतम आंकड़ों के अनुसार कोरोनाकाल में फिल्म व टीवी आदि देखने के में 54% की, सोशल मीडिया से जुड़ने वालों की 43% मैसेंजर आदि से जुड़ने की 42% तथा वीडियो बनाने तथा उसे सोशल मीडिया पर अपलोड करने में 16% की वृद्धि हुई। इससे निश्चय ही इटरनेट जगत में सांस्कृतिक गतिविधियों में एक बड़ा उछाल हुआ। कहने का अभिप्राय यह कि कोरोना काल के इस परिवर्तन से आभासी साहित्यिक - सांस्कृतिक आयोजनों ने वास्तविक आयोजनों को मीलों पीछे छोड़ दिया है और अब आभासी सांस्कृतिक आयोजनों ने जो अपनी जगह बनाई है, कोरोनाकाल के पश्चात भी यह बनी रहने वाली है।

आज अपनी विपुल जनसंख्या के चलते भारत इंटरनेट पर चीन के बाद दूसरे स्थान पर है। फेसबुक जैसे लोकप्रिय सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म पर अमेरिका को पछाड़ कर भारत पहले स्थान पर है। अन्य सोशल मीडिया प्लेटफॉर्मों पर भी भारत की महत्वपूर्ण उपस्थिति है। मोबाइल के माध्यम से समाज के निचले वर्ग तक पहुंचने के चलते इंटरनेट पर हिंदी व भारतीय भाषाओं की स्थिति में काफी सुधार आया है और हिंदी के विकास की दर 94% तक पहुंच गई है लेकिन इसके बावजूद जहाँ इंटरनेट

पर अंग्रेजी का प्रतिशत 25.3, मंडोरियन का 19.8% है वहीं अभी भी हिंदी .1% पर है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि हिंदी भाषियों सहित ज्यादातर भारतीय अपनी भाषा को देवनागरी लिपि या अपनी भाषा की लिपि के बजाए रोमन लिपि में लिखते हैं। अपनी संस्कृति से जुड़ने और इसे आगे बढ़ाने के लिए अपनी भाषा और लिपि का प्रयोग महत्वपूर्ण है। यदि हम एक बार देवनागरी से कटे तो इस लिपि में समाहित संस्कृति के विपुल भंडार से वंचित हो जाएँगे।

यहाँ कुछ महत्वपूर्ण बिंदुओं पर ध्यान देना होगा कि संस्कृति के प्रसार और विकास की बात तभी तक हो सकती है जब वह विद्यमान हो। दूसरी बात यह कि भाषा संस्कृति की वाहक होती है और भाषा वही चलती है जो पेट की भाषा होती है और हमें संपन्नता की ओर ले जाती हो। इस प्रकार संस्कृति भी आगे चलकर हृदय से अधिक पेट पर निर्भर हो जाती है। जिस भाषा से रोजी-रोटी, संपन्नता न मिले, उस भाषा के माध्यम में कोई क्यूँ पढ़ेगा? जब भाषा छूटेगी तो संस्कृति भी छूटेगी जैसा कि भारत में हो रहा है। भारतीय भाषाएँ रोजगार का माध्यम नहीं बन सकीं, इसलिए गाँव-गाँव तक अंग्रेजी माध्यम पसर गया और उसके साथ-साथ उनकी यानी पाश्चात्य संस्कृति भी फैली। जब गाँवों में भी लोक-संस्कृति नहीं होगी तो आप उसे ढूँढेंगे कहाँ? जब होगी ही नहीं तो प्रसार किसका करेंगे। तब कोई अकादमी, संस्था या कोई माध्यम काम न आ सकेगा। इंटरनेट भी संस्कृति का प्रसार तो कर सकता है लेकिन उसे बचा नहीं सकता, इसके लिए तो उसका स्थान जन-जन के मन में होना चाहिए। जो स्वभाषा से ही संभव है। इसलिए रोजी-रोटी से शुरू हो कर, शिक्षा के माध्यम और उससे संस्कृति से जुड़ने-बिछुड़ने के क्रम को हमें समझना होगा और इसके लिए समुचित उपाय करने होंगे।

अब जबकि पूरी दुनिया डिजिटल आकार ले रही है। देश–दुनिया की तमाम सेवाएँ-सुविधाएँ धीरे-धीरे ऑनलाइन होकर अंतरजाल में समा रही हैं। बहुत कुछ ऑनलाइन हो चुका है, और बहुत कुछ ऑनलाइन होने जा रहा है। बिना इंटरनेट के दुनिया की गाड़ी का पहिया चल नहीं सकेगा। इसलिए इस यथार्थ को स्वीकार करना होगा कि आभासी दुनिया यानि वर्च्युअल वर्ल्ड वास्तविक दुनिया का यथार्थ है। अब जबकि भारत 4जी को पीछे छोड़कर 5जी के साथ अपने पांव पसार रहा है और भारत सरकार भी सूचना व शिक्षा के क्षेत्र में विश्व में आगे बढ़ने की योजनाएँ बना रही है, ऐसे में इंटरनेट भारतीय संस्कृति के प्रसार का महत्वपूर्ण माध्यम हो सकता है, इसमें संदेह नहीं।

******

श्लोक

वाणी, रसवती यस्य, यस्य श्रमवती क्रिया।

लक्ष्मी: दानवती यस्य, सफलं तस्य जीवितं।।

भावार्थ- जिस मनुष्य की वाणी मीठी हो, जिसका काम परिश्रम से भरा हो, जिसका धन दान करने में प्रयुक्त हो, उसका जीवन सफल है।

बरगीत: असम के एक राग पर आधारित मार्ग संगीत

दिवाकर दास
उपनिदेशक (ट्रेनिंग-वर्कशॉप सेक्शन)
सीसीआरटी, नई दिल्ली।

बरगीत संत शंकरदेव और उनके सबसे करीबी और प्रिय शिष्य संत माधवदेव द्वारा 15 वीं और 16 वीं शताब्दी के अंत में लिखी और रचित राग आधारित रचनाएँ हैं। यह एक विशेष प्रकार के भक्ति गीत हैं जिनका उपयोग संत शंकरदेव द्वारा असम में भक्ति आंदोलन के दौरान वैष्णववाद के प्रचार और प्रचार के उद्देश्य से किया गया था। बरगीत एक कृत्रिम भाषा में लिखी जाती थी जिसे 'ब्रजावली' के नाम से जाना जाता था। भगवान कृष्ण की भक्ति पर केंद्रित उत्कृष्ट साहित्यिक रूप से तैयार किए गए शब्द व उनकी राग आधारित मधुर रचनाओं के कारण बरगीत को असम में उच्च कोटि के गीतों के रूप में मान्यता दी गई है। यद्यपि हिंदुस्तानी संगीत पद्धति के साथ कुछ समानताएँ हैं जिन्हें खारिज नहीं किया जा सकता है, लेकिन बरगीतों की अपनी विशिष्ट विशेषताएं हैं जो रागों और तालों पर आधारित हैं और उनकी प्रस्तुति की भी एक विशेष शैली है, जिसके लिए उन्हें संगीत के एक विशिष्ट शाखा के रूप में सीमांकित किया जा सकता है। .

15 वीं और 16 वीं शताब्दी के अंत में महान विद्वान, दार्शनिक, सामाजिक और धार्मिक सुधारक, नव-वैष्णव आंदोलन के प्रचारक और असम के महान संत महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव और उनके सबसे करीबी और प्रिय शिष्य महापुरुष श्री माधव देव द्वारा बरगीत गीत की रचना की गई थी। बरगीत शब्द दो शब्दों का मेल है, जिसका असमिया भाषा के अनुसार 'बर' का अर्थ है उच्च या अपने कद में महान (आध्यात्मिक पहलू पर) और 'गीत' का अर्थ है गीत। बरगीत गीत को एक प्रकार की राग आधारित रचना के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो बहुत ही मधुर और आत्मीयता से अलंकृत होता है जो उच्च नैतिक और गहरे दार्शनिक विचारों को व्यक्त करता है और विभिन्न छंदों में पूरी तरह से व्यवस्थित होता है। चूंकि उनकी अभिव्यक्ति भक्ति की धारणा पर आधारित है इसलिए बरगीतों को अक्सर मार्ग संगीत के रूप में जाना जाता है। उनका उपयोग संत शंकरदेव और उनके शिष्यों द्वारा नव-वैष्णववाद को बढ़ावा देने के लिए किया गया था। हरि नारायण दत्त बरुआ (साहित्य रत्न) के अनुसार, 217 बरगीत हैं जिनमें से 35 बरगीत शंकरदेव द्वारा और 182 उनके शिष्य माधवदेव द्वारा लिखे गए थे। हालाँकि मेरे गुरु डॉ. भबानंद बरबायन (प्रसिद्ध सत्रिया नृत्य कलाकार जो उत्तर कमलाबाड़ी सत्र, माजुली, असम से हैं और सत्रिया नृत्य और संगीत के प्रतिपादक हैं) का

कहना है कि प्रसिद्ध असमिया विद्वान बाप चंद्र महंत के अनुसार, कुल 192 बारगीत वर्तमान समय में उपलब्ध हैं और कमलाबाड़ी सत्र में अभ्यास किया जा रहा है। बरगीत शब्द का प्रयोग संत शंकरदेव और माधवदेव ने स्वयं नहीं किया था। उन्होंने बस उन्हें गीत नाम दिया। हालाँकि यह शब्द उनके वंशजों या उत्तराधिकारियों द्वारा दो गुरुओं के प्रति आभार व्यक्त करने के लिए दिया गया था।

बरगीत में बहुत सी विशिष्ट विशेषताएं हैं जो लगभग हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत या उत्तर भारतीय संगीत पद्धति की विशेषताओं के समान हैं, जो भारत के उत्तरी भाग में प्रमुख हैं ; जैसा की बरगीत की उत्पत्ति, विकास, उनकी रचनाओं में प्रयुक्त राग और ताल, रस और भाव की अंतर्निहित अवधारणा, प्रस्तुति के लिए विभिन्न उपकरणों का उपयोग, समय सिद्धांत और शैली इत्यादि।

'बरगीत' शब्द सबसे पहले "कथा गुरु चरित" में पाया गया हैं। असम के विभिन्न लेखकों और साहित्यकारों ने समय समय पर कई अलग-अलग तरीकों से बरगीत की परिभाषा का सुझाव दिया है। प्रसिद्ध लेखक डॉ. बाणिकांत काकोटी जी ने कहा है कि उच्च नैतिक और आध्यात्मिक विचारों पर आधारित गीतों को बरगीत के नाम से जाना जाता है। डॉ. महेश्वर नेओग जी ने बरगीत को असम का शास्त्रीय संगीत बताया है जो रागों और तालों पर आधारित है। कालीराम मेधी जी ने बरगीत को महान गीत या दिव्य गीत के रूप में वर्णित किया है। डॉ. सत्येंद्र नाथ शर्मा जी ने कहा है कि विषय का महत्व, निर्माण की शैली, शास्त्रीय संगीत का रंग जिस पर वे आधारित हैं और उनके गीतों में विचारों का संयम असम के अन्य सभी समकालीन गीतों से बरगीतों को अलग करता है। कीर्तिनाथ शर्मा बरदलई जी ने यह भी कहा कि बरगीत की तुलना हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत के ध्रुपद गायन से की जा सकती है।

संत शंकरदेव के दादा कन्नौज से असम चले गए थे। वे बारोभूयां के रूप में जाने जाते थे जिसका अर्थ है भूमि स्वामी। डॉ. भबानंद बरबायन का कहना है कि शंकरदेव के दादा चंडीबर एक संगीतकार थे और उन्हें उस दौर के राजा द्वारा उनकी संगीत क्षमता के लिए सम्मानित किया गया था। बाल शंकरदेव ने अपने गुरु महेंद्र कंडली के अधीन संस्कृत विद्यालय में अध्ययन किया, जिसे स्थानीय रूप से असम में 'तोल' कहा जाता था। उनकी मार्गदर्शन में बाल शंकरदेव सभी वेदों, उपनिषदों, विभिन्न शास्त्रों आदि सीखें थे। उस अवधि के दौरान, असम और उसके पड़ोसी क्षेत्रों में बौद्ध अनुयायियों द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए कई 'चार्यपद' रचित और उपयोग किए गए थे। ये चार्यपद राग आधारित रचनाएँ थीं। शंकरदेव को इस संगीत रूप के संपर्क में आने का सौभाग्य मिला, जिसने शायद उन्हें काफी हद तक प्रभावित किया हो।

शंकरदेव, अपने अनुयायियों और गुरु महेंद्र कंडाली के साथ, भारत के उत्तरी भागों में लगभग 12 वर्षों के लिए अपनी पहली तीर्थयात्रा के लिए गए। उन्होंने पुरी, बृंदावन, बदरीकाश्रम आदि स्थानों का दौरा किया, जहाँ उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में विशेषज्ञता रखने वाले कई आचार्यों से मुलाकात की। उस तीर्थयात्रा के दौरान बद्रीकाश्रम में, शंकरदेव ने अपना पहला बरगीत, **'मन मेरी राम चरण ही लागू'** (अपना मन भगवान राम के चरणों में रखना चाहता हूँ) लिखा था। उन्होंने अपने जीवन काल में दो बार भारत के उत्तरी भागों का दौरा किया था।

उपरोक्त तथ्यों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनके परिवार की संगीतमय पृष्ठभूमि से लेकर गुरु महेंद्र कंडाली के 'तोल' में सीखने तक, राग आधारित चर्यपदों और उत्तरी भारत के विभिन्न हिस्सों में उनकी तीर्थयात्राओं के संपर्क में आने तक, इन सभी घटनाओं ने उन्हें संगीत ज्ञान और अन्य आध्यात्मिक शिक्षा से परिचित होने का अवसर दिया होगा, जिसके परिणामस्वरूप 'बरगीत' के रूप में जानी जाने वाली सबसे सुंदर और स्वर्गीय रचना हुई और जिसे लोग लगभग 500 वर्षों के बाद भी प्रशंसा और चिंतन करते हैं।

संत शंकरदेव की मृत्यु के बाद असम में तीन सबसे प्रचलित थुल विकसित किए गए। 'थुल' शब्द को 'घराना' शब्द के रूप में संदर्भित किया जा सकता है जैसा कि हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत में देखा जाता हैं जो इस प्रकार हैं:

1. बरपेटा थुल: इसकी स्थापना असम के बरपेटा जिले में संत माधवदेव के एक शिष्य 'बूढा आता ' द्वारा की गई थी।
2. बरदुआ थुल: इसकी स्थापना असम के नौगांव जिले के बरदुआ में संत शंकरदेव के परिवार के वंशजों ने की थी।
3. कमलाबारी थुल: इसे असम के माजुली जिले के कमलाबाड़ी में संत माधवदेव के एक अन्य शिष्य 'बदुला आता ' द्वारा स्थापित किया गया था।

कमलाबाड़ी थुल के रहने वाले अध्यापक डॉ. भबानन्द बरबायन का कहना है कि यद्यपि बरगीतों में वर्णित राग सभी थुल में समान हैं, लेकिन अधिकांश समय, स्वरों की प्रगति, प्रदर्शन की शैली, ताल या ताल की प्रस्तुति के दौरान रचनाओं में प्रयुक्त ताल एक दूसरे से भिन्न होते हैं। इस विशेषता की तुलना हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की विभिन्न घराना शैलियों से की जा सकती है। ग्वालियर, आगरा, जयपुर अतरौली, किराना आदि जहाँ किसी विशेष बंदीस या रचना की प्रस्तुति की शैली एक दूसरे से भिन्न होती है, हालाँकि रचना एक ही राग पर आधारित होती है। वर्तमान में गुनिन ओझा बरपेटाथुल के बरगीत के सबसे लोकप्रिय कलाकारों में से एक हैं।

सत्र एक प्रकार का धार्मिक केंद्र है जहाँ वैष्णव भक्त निवास करते हैं और खुद को वैष्णववाद की प्रथाओं के लिए समर्पित करते हैं और निश्चित सिद्धांतों और रीति-रिवाजों का पालन करते हैं। केवल हम कह सकते हैं कि वे संत शंकरदेव, माधवदेव या के अनुयायी हैं। उनके वंशज। सत्र की स्थापना के विचार की अवधारणा संत शंकरदेव ने की थी और इसे सबसे पहले नौगांव जिले के बरदुआ में स्थापित किया गया था। उनकी मृत्यु के बाद शंकरदेव के शिष्यों द्वारा कई सत्र स्थापित किए गए थे। भक्तों द्वारा पूरे दिन पालन किए जाने वाले अनुष्ठान के एक निर्धारित कार्यक्रम के एक भाग के रूप में वैष्णव सत्रों में बरगीत गाए जाते हैं। दिन की शुरुआत बरगीत के गायन से होती है और बरगीत पर ही समाप्त होती है। प्रत्येक सत्र में अभ्यास की जाने वाली चौदह इकाइयों में से, जिसे चौध्य प्रसाद के रूप में जाना जाता है, बरगीत केवल दो इकाइयों में गाए जाते हैं। इसके साथ खोल और ताल नामक वाद्य यंत्र होता है। यह एक नियमित गतिविधि है। शंकरदेव और माधवदेव की जयंती या पुण्यतिथि के दौरान, सतराओं में भक्तों द्वारा बरगीत गाए जाते हैं। एक सत्र में चार प्रकार के संगीतकार होते हैं जैसा की गायन, बरगायन, बायन, बरबायन । गायन सत्र द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार उनकी गायन क्षमताओं के लिए सत्र में रहने वाले भक्तों को सत्र द्वारा दी गई मान्यता है। उसी प्रकार से 'बरगायन' दिया जाने वाला एक और पद है, जिन्होंने सत्र द्वारा डिजाइन की गई गायन क्षमताओं के क्षेत्र में नियमों के और नियमों को पूरा किया है। बायन (खोल वादक) और बरबायन के लिए भी यही शर्तें लागू हैं।

शंकरदेव द्वारा लिखित प्रत्येक बरगीत में आमतौर पर छह या सोलह पंक्तियाँ होती हैं। पहली दो पंक्तियों को ध्रुव के रूप में जाना जाता है और शेष पंक्तियों को पाद के रूप में जाना जाता है। गाते समय, पाद की प्रत्येक दो अनुवर्ती पंक्तियों के बाद ध्रुव को दोहराया जाता है। अधिकांश बरगीतों में, शंकरदेव और माधवदेव ने अंतिम दो पंक्तियों में अपने-अपने नामों का उल्लेख करते हुए उनका समापन किया। बरगीत के गायन की शुरुआत खोल वाद्य की गुरु-घाट से होती है। इसके बाद राग का आलाप आता है। आलाप गाने के लिए हरि, राम, गोविंद, ताना, ने, नि आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। बरगीत की प्रस्तुति के अंतिम भाग के दौरान, लय या गति अपनी प्रस्तुति के पूरा होने तक तेज हो जाती है।

संत शंकरदेव और माधवदेव के बरगीतों में 36 रागों उल्लेख मिलते हैं। उनके द्वारा वर्णित रागों के कुछ नाम हैं: अशुवारी, मल्लार, धनश्री, गौरी, बसंत, श्री, केदार, माहूर धनश्री, तुरबसंत, कल्याण, पूर्वी, भूपाली, नटमल्लर, श्री गंधार, नीचे, माहूर, भटियाली, तूर- भटियाली, श्री गौरी, सिंधुरा, नट, श्याम, कौ, अहीर, सारंग, तूर, सुहाई आदि। यहाँ यह उल्लेख करना महत्वपूर्ण

है कि इन सभी उल्लिखित रागों में से राग "कौ" उत्तर भारतीय में भी नहीं देखा जाता है। बरगीत में पाए जाने वाले राग आशुवारी की कुछ नोट प्रगति में हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत के राग दुर्गा के साथ एक खास तरह की समानता है। इसी तरह, बरगीत में पाए जाने वाले राग धनश्री की कुछ नोट प्रगति में काफ़ी थाटा के रागों जैसे हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत के भीमपलाशी, धानी या धनश्री के साथ कुछ समानताएं हैं।

संत शंकरदेव द्वारा बरगीत लिखने के लिए जिस भाषा का इस्तेमाल किया गया था, उसे ब्रजावली के नाम से जाना जाता है। ब्रजावली मैथली और अवहट्टा बोली का मिश्रण है। इस बोली में संस्कृत और असमिया के साथ-साथ हिंदी शब्द भी पाए जाते हैं।

ब्रजावली भाषा का विकास पूर्वी भक्ति कवियों अर्थात असम, बंगाल और उड़ीसा के कवियों द्वारा 15वीं सदी के अंतिम भाग और 16वीं शताब्दी के शुरुआती भाग में किया गया था। उन्होंने इस भाषा में गीतों, छंदों और नाटकों की रचना की, लेकिन अपने क्षेत्र के तत्वों को भी बरकरार रखा। विभिन्न लेखकों के बीच एक मजबूत राय है कि शंकरदेव संभवतः पूर्वी भक्ति कवियों में पहले लेखक थे जिन्होंने ब्रजावली भाषा में अपना पहला गीत लिखा था।

बरगीत एक बहुत ही उच्च नैतिक और दार्शनिक अंतर्दृष्टि दिखाते हैं और इसकी अभिव्यक्ति भक्ति की धारणा का वर्णन करती है। विभिन्न विद्वानों ने भक्ति की इस धारणा को छह उप श्रेणियों में विभाजित किया है। इनमें विरह, विरक्ति, चोराचतुरी, लीला और परमार्थ शामिल हैं। ततवाद्य या तार वाद्य जो पहले बरगीत करने के लिए इस्तेमाल किया जाता था, वे थे 'चरंगदार' (सरिंडा) । एक और सबसे महत्वपूर्ण वाद्य यंत्र 'खोल' है, जो आमतौर पर बरगीत की लय को बनाए रखने के लिए प्रयोग किया जाता है। दिलचस्प बात यह है कि खोल की अवधारणा और डिजाइन का आविष्कार स्वयं संत शंकरदेव ने किया था। पहले खोल मिट्टी से बनता था जो टूटने योग्य था लेकिन अब यह लकड़ी से बना है। एक अन्य सहायक वाद्य यंत्र 'भूरताल' है, जो एक विशेष प्रकार का बड़ा आकार का झांझ है जिसे बरगीत के प्रदर्शन के दौरान दोनों हाथों से बजाया जाता है। बरगीत के प्रदर्शन के दौरान बांसुरी, वायलिन, मंजीरा का भी संगत के रूप में उपयोग किया जाता है। यद्यपि पूर्व काल में तानपुरा के प्रयोग के सम्बन्ध में कोई जानकारी प्राप्त नहीं हुई है। आज तक तानपुरा का उपयोग सत्र या नामघर, असम के गांवों और कस्बों के प्रार्थना घरों में नियमित प्रदर्शन में नहीं किया गया है। हालांकि मंच प्रदर्शन के दौरान आजकल कलाकारों द्वारा तानपुरा का उपयोग किया जाता है।

******

मधुबनी चित्रकला: *मिथिला की एक प्राचीन लोक कला*

सोमा घोष
पुस्तकालय अध्यक्षा और मीडिया अधिकारी
सालार जंग संग्रहालय, संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार, हैदराबाद

देश की बिहार राज्य में मधुबनी नाम का एक रेलवे स्टेशन है जोकि भारत के सबसे पुराने रेलवे स्टेशनों में से एक है। यहाँ के सैकड़ों स्थानीय मिथिला कलाकारों द्वारा स्टेशन की दीवारों को मधुबनी की चित्रकला के साथ बड़ी खूबसूरती के साथ सजाया गया है। वर्ष 2017 में इस जानकारी को समाचार-पत्रों द्वारा प्रमुखता से क्षेत्रों की प्रमुख चित्रकला है। यद्यपि यह कला अब दुनिया में अच्छी तरह से जानी जाती है, लेकिन इस कला में विशेष रूप से मिथिला भूमि की मधुबनी से संबंधित प्राचीन चित्रकला की ओर दुनिया का ध्यान ज्यादा केंद्रित हुए इस कला को ज्यादातर मधुबनी चित्रकला अथवा मधुबनी पैंटिंग कहा जाता है।

20 वीं शताब्दी में स्वर्गीय श्रीमती सीता देवी द्वारा निर्मित राधा-कृष्ण, मधुबनी चित्र

स्थान दिया गया था। इन दीवारों पर जो चित्र अंकित किये गये हैं, वे मिथिला भूमि की प्राचीन कला के स्वरूप हैं। मधुबनी चित्रकला या मिथिला पैंटिंग बिहार के दरभंगा, पूर्णिया, सहरसा मुजफ्फरपुर, मधुबनी तथा नेपाल के कुछ

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि:

चित्रकला के ''मिथिला स्कूल'' के रूप में सम्मानित, यह चित्रकला ज्यादातर उत्तर बिहार में शुरु हुई जिसमें धार्मिक संदर्भों को दर्शाता

जाता है। इन पेंटिंग्स को ज्यादातर महिलाओं द्वारा बनाया जाता है। बिहार के कुछ हिस्सों में कई शताब्दियों से मधुबनी पेंटिंग्स बनाई जा रही हैं। वास्तव में इस बात के कोई ठोस प्रमाण नहीं हैं कि यह कला कब शुरु हुई थी। लेकिन मान्यता है कि सीमा जी और भगवान राम के विवाह के समय मिथिला के राज जनक ने साज-सज्ज के लिए इस चित्रकला को आरंभ कराया था। इस कला को राष्ट्रीय मान्यता तब मिली जब जगदंबा देवी, सीता देवी जैसे कलाकारों को भारत के राष्ट्रपति द्वारा राष्ट्रीय पुरस्कार दिए गए। ये पेंटिंग्स अन्य लोगों के अलावा यूरोपीय और कनाडाई लोगों द्वारा भी पसंद की जाती हैं। जापान में एक्सपो-70 और एशिया-72 प्रदर्शनी ने इस कला रूप की पेंटिंग की बिक्री सुनिश्चित करने के लिए इसे प्रमुखता से स्थान दिया गया। पूर्व काल में यह कला बिहार और नेपाल के क्षेत्रों में त्योहारों के अवसर पर भित्ति चित्रों के रूप में देवताओं से संबंधित दृश्य उकेरने के लिए प्रसिद्ध थी, लेकिन आजकल ये पेंटिंग्स, मार्बल पेंटिंग्स, बाटिक, कलम कारी, सिल्क पेंटिंग्स के रूप में प्रचलित हैं। इन्हें अब 'पांच सितारा' होटलों, रेलवे स्टेशनों की दीवारों पर और निजी ड्राइंग रूमों में प्रदर्शित किया जाता है। ये पेंटिंग्स अब पूरे विश्व में पसंद की जाती हैं।

मिथिला गंगा के उत्तर में एक प्राचीन भू-क्षेत्र है। पूर्णिया जिले में मधुबनी, को मिथिला का ''दिल'' माना जाता है। मिथिला में प्राचीन शासकों के शहरों के अवशेष मौजूदा हैं। यह क्षेत्र वैदेही, लिच्छवि, मगध, मौर्य, गुप्त और कर्नाटा वंश के साथ रहा है। यह सन 1324 में मोहम्मद बिन तुगलक शासन के अधीन आया था। उसके बाद भूमि को लगभग दो शताब्दियों तक ओनावाड़ा राजवंश द्वारा शासन किया गया था।

मिथिला क्षेत्र बौद्ध और जैन परम्परा एक गढ़ रहा है। तीर्थंकर यहाँ पैदा हुए थे और भगवान बुद्ध वैशाली में आए थे। मिथिला की भूमि सांस्कृतिक रूप से बहुत समृद्ध रही है। वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत, आदि राजाओं और आम लोगों के बीच बहुत लोकप्रिय था। मिथिला में कांस्य, पत्थर और हाथीदांत में मूर्तियां पाई गई हैं जिनमें सभी देवताओं की छवियां हैं।

नक्काशीदार लकड़ी की छवियां मिथिला के कारीगरों द्वारा बनाई हैं। दीवारों पर चित्रकारी ज्यादातर महिलाओं द्वारा बनाई जाती हैं। "व्रत'' जैसे धार्मिक और सामाजिक अवसरों पर, महिलाएं जीवंत कलाकृति के साथ दीवारों को सजाती हैं जो दर्शकों के मन और आत्मा को आकर्षित करती हैं। मिथिला चित्रकला ''लोक कला'' के तहत वर्गीकृत है। कलाकार दीवारों, कैनवास और फर्श पर पेंट करते हैं;

यह लोक कला ज्यादातर उपयोगिता आधारित उद्देश्यों अथवा अनुष्ठानों के लिए शुरु की गई थी। इनमें ज्यादातर चित्र धार्मिक होते

हैं। दीवार पर उकेरित चित्रों को ''भित्ति-शोभा'' कहा जाता है। दक्षिणी बिहार (अब झारखंड) में इसे ''उरेहाना'' कहा जाता है। मिथिला कला अपने परिष्कृत रूप में ब्राह्मण और कायस्थ जाति की महिलाओं द्वारा प्रचलित की है। अन्य जातियों ने उपयोगिता वस्तुओं चित्रण अपने घरों में उपयोग के लिए किये।

फर्श पर अरिपना या चित्रों को उकेरने की कला एक विरासत दर विरासत चलती है। महिलाओं को अरिपना सीखना और निष्पादित करना आवश्यक होता है और वे इसे स्वाभाविक रूप से सीखती भी हैं। ड्रॉइंग करने वाली मुख्य महिला को अरिपना ''देनिहारी'' कहा जाता है। श्री एल.एन मिश्रा इस कला को बाहरी दुनिया के संज्ञान में लाए। अलग-अलग देवी-देवताओं की पूजा से संबंधित अरिपना विभिन्न पूजा और अनुष्ठानों के दौरान बनाये जाते हैं। मधुबनी चित्रकला की ओर सबका ध्यान उस समय गया जब डब्ल्यू.जी आर्चर ने ब्राह्मण और कायस्थ महिलाओं द्वारा बनाए गए भित्तिचित्रों की बात की। वे उन्हें ''मैथिला चित्र'' कहते थे। इस कला को मां द्वारा बेटी को सिखाया जाता है और इस तरह यह चित्रकला परंपरा लगातार जारी है।

अरिपना विभिन्न तरीकों से बनाई जाती है, मंडला चित्र और तांत्रिक डिजाइन, व्रत मंडल आदि। श्री उपेंद्र ठाकुर के अनुसार अरिपना या अल्पना, 'अलींपाना' शब्द से लिया गया है जिसका अर्थ है दीवार को चित्रित करने की कला यह जमीन पर रेखाचित्रों के रूप में अरिपना समारोहों के दौरान बनाई जाती है। यह प्राचीन ग्रंथ ''गृहसूत्र'' में वर्णित 64 कलाओं में से एक है।

ये घर के प्रवेश द्वार पर आंगन में बने होते हैं। अरिपना पारंपरिक रूप से चावल पाउडर और पिथारा नामक पानी के मिश्रण से बनाई जाती है। लाल, हरे, पीले और काले रंगों का उपयोग वर्मिलियन (सिंदूर) के साथ भी किया जाता है। इसमें शिव-पार्वती, राधा-कृष्ण, विष्णु-लक्ष्मी जैसे हिंदू धर्म के विभिन्न देवी-देवताओं को चित्रित किया गया है।

दुर्गा पूजा के लिए अष्टदल अर्थात् आठ पत्तियों वाला कमल चित्रित किया जाता है। इसे भगवान विष्णु की पूजा के लिए भी प्रयोग किया जाता है। आठ पंखुड़ियाँ आठ सिद्धियों की प्रतीक हैं। आठ पंखुड़ियों पर सांखा (शंख), खड़गा (तलवार), दमारू (ड्रम), चक्र (डिस्क), पासा (मैस), सला (भाला), पद्मा (कमल) और अर्धचंद्र बिंदु के साथ चित्रित किया जाता है। भगवान विष्णु की पूजा के दौरान उनके विभिन्न रूपों को चित्रित किया जाता है।

अन्य अरिपना क्रियाओं में सद्दाला क्रिया, स्वास्तिका अरिपना, दशपता अरिपना और मधुप्रवानी अरिपना शामिल हैं। अरिपना एक औपचारिक कला है जिसका प्रयोग उपनयन

संस्कार, विवाह, लंबे जीवन के प्रतीक के लिए , बरगद की पूजा के लिए तथा सत्यनारायण की पूजा जैसे अवसरों पर किया जाता है।

मधुबनी भित्तिचित्र : दीवार पर लेखन

मिथिला क्षेत्र के लोक चित्र दीवारों पर बने होते हैं। इन चित्रों को आमतौर पर मधुबनी चित्रकला के रूप में जाना जाता है। ये चित्र जितवरपुर, रांति, दरभंगा, सहरसा और पूर्णिया में मधुबनी के घरों की दीवारों पर बने होते हैं। कलाकारों के प्रयासों द्वारा इस कला रूप को प्रोत्साहन मिला।

यह एक ऐसी कला है जो ज्यादातर कलाकारों-गृहिणियों द्वारा बनाई जाती है। इनमें महत्वपूर्ण कलाकार रांति गांव की महासावित्री देवी, जितवरपुर की सीता देवी, बाउ देवी झा, जगदंबा देवी और महासुंदरी देवी हैं जिनके नाम विश्व प्रसिद्ध हैं। चित्रकला की शैली गांव-दर-गांव भिन्न होती है। ब्राह्मण और कायस्थों द्वारा बनाए

'मिथिआर्ट डॉट कॉम' द्वारा कोहबारा चित्र

1967-68 में श्री ललित नारायण मिश्रा, विदेश व्यापार मंत्री के मार्गदर्शन तथा श्री उपेंद्र महाराथी तथा श्री भास्कर कुलकर्णी, जैसे

गए चित्र अद्वितीय होते हैं। इन चित्रों में ''बड़ी जगह'' का एक महत्व है। छोटे प्रारूप और बड़े प्रारूप एक दूसरे के साथ जुड़े होते हैं। चित्रकला

में इस्तेमाल किए गए प्रतीक हडप्पा में पाए गए मिट्टी के बर्तनों के समान हैं। लोकगीतों में यह उल्लेख मिलता है कि राजा जनक के परिवार की महिलाएं दीवारों पर चित्रकला करती थीं। उर्मिला (लक्ष्मण की पत्नी) ने लक्ष्मण की छवि एक दीवार पर बनाई और जब लक्ष्मण अपने भाई भगवान राम और सीता देवी के साथ अपने निर्वासन के दौरान जंगल में गए, तो उन्होंने उनकी पूजा की थी। राजपूत, सोनार, अहीर और दुसाध लोग भी चित्रकला करते हैं लेकिन इनके कुछ परिवार ही यह चित्रकला प्रदर्शित करते हैं।

इन कला परिवारों में लड़की को शादी के समय कागजों पर बना डिज़ाइन साथ में दिया जाता है ताकि वह अपने नए घर में उसका उपयोग कर सके और नए डिजाइन भी पेश कर सके। मिथिला का क्षेत्र ब्राह्मणिक प्रभुत्व के अधीन रहा है जिसका मिथिला जीवन के सभी पहलुओं पर प्रभाव पड़ा है। चित्रकला की प्रक्रिया ने महिलाओं को अभिव्यक्ति का माध्यम दिया है। ये महिलाएं प्राकृतिक कलाकार हैं और वास्तव में किसी भी मानदंड का पालन नहीं करते हैं।

दीवार की सतहें गाय गोबर के साथ प्लास्टरिंग द्वारा तैयार की जाती हैं या पहले चूने से सफेदी की जाती है जिस पर पेंटिंग्स बनाई जाती हैं। रंग पहले स्वयं तैयार किए जाते थे, लेकिन अब उन्हें कोलकाता में निर्मित और वहाँ से मधुबनी और पूर्णिया लाये गए रंगों को खरीदा जाता है। इन कलाओं में गुलाबी, नीला, सिंधुरा, सुगापंकी, हरा रंग उपयोग किया जाता है। पलाश फूल से नारंगी, कुसुमा फूल के रस से लाल और बेल पत्तियों से हरा रंग तैयार होता है। कायस्थ परिवारों की पेंटिंग्स में ब्राउन, पीले-ओकर, हल्दी और मायरोबालन (हरदा), लाल और काले रंग होते हैं जो आधुनिक समय में खरीदे जाते हैं। 'सिककर' नामक एक जड़ी बूटी के जामुन से नीला रंग प्राप्त होता है। गहरा हरा रंग 'सियाम'

कृष्ण और गोपियों का चित्रण करती 'मधुबनी पेंटिंग'

क्रीपर से, और तोते-हरे रंग गुलमोहर से प्राप्त होता हैं। पराग से पीला रंग निकाला जा सकता है, लेकिन आजकल अन्य कार्बनिक और खनिज रंगों का उपयोग किया जा रहा है।

ब्राह्मणों और कायस्थों की पसंदीदा ईष्ट देवी दुर्गा हैं। देवी काली का तांत्रिक अनुष्ठानों में एक महत्वपूर्ण स्थान होता है और अरिपना और दीवार चित्रों के निर्माण में तंत्र का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। इन चित्रों में प्रमुख रूपों से वनस्पतियों, जीवों एवं प्राकृतिक जीवन को दर्शाया गया है। देवी-देवता, शेर, मछली, तोते, कछुए, कमल, क्रीपर्स, स्वास्तिका आदि इन चित्रों में दिखाई देते हैं। इन रूपों का उपयोग अनुष्ठान के अनुसार एक दूसरे के रूप में किया जाता है। उपनयन संस्कार, प्रारंभिक शादी की औपचारिकताओं, मंदिर के नवीनीकरण जैसे समारोहों, में चित्रों की बड़ी मांग होती है। ये पेंटिंग्स आंगन व दहलीज, दोनों के सौंदर्यीकरण और पवित्रता के लिए बनाई जाती हैं। कोहाबरा पेंटिंग्स शादी के लिए अच्छी प्रतीक मानी जाती है। कदंब पेड़, सूरज, फूल, मोर, चंद्रमा, पालकी, कछुए, मछली सभी को चित्रित किया जाता है। भितिचित्र या दीवार चित्रों को शुभ मौकों पर बनाया जाता है। मधुबनी चित्रकला में इस्तेमाल किए गए प्रतीकों का अपना महत्व है। हाथी की पालकी राजसी शान को प्रदर्शित करती है। सूर्य और चंद्रमा लंबे जीवन का प्रतीक माने जाते हैं। मोर, कल्याण और शांति का प्रतीक है। कमल अच्छी किस्मत दर्शाता है और बांस भावी संतान को दर्शाता है।

सीता देवी

सीता देवी मधुबनी कला का एक जाना माना नाम है। उन्होंने कला को ग्रामीण घरों से बाहरी दुनिया में पहुँचाया। उनका जन्म 1914 में बिहार के मधुबनी के जितवारपुर गांव में हुआ था। उन्हें 1969 में राज्य पुरस्कार, 1975 में राष्ट्रीय पुरस्कार और 1981 में पद्मश्री से सम्मानित किया गया था। उन्हें 1984 में ''बिहार रत्न सम्मान'' मिला। 2005 में उनकी मृत्यु हो गई।

बाउ देवी

बाउ देवी बिहार के मिथिला जिले के जितवरपुर से हैं। उन्होंने दीवार चित्रों को 1966 में कागज़ पर उतारा। वह एक ब्राह्मण परिवार में

बाउ देवी, कलाकार

पैदा हुई थी अपनी परिवार के भरण पोषण के लिए उन्होंने अपनी कलाकृतियों को बेचना शुरु कर दिया। उन्हें वर्ष 2017 में बाउ देवी को पद्मश्री से सम्मानित किया गया था।

गंगा देवी

बिहार के मिथिला में 1928 में एक कायस्थ परिवार में जन्मी गंगा देवी एक मधुबनी चित्रकार थीं, जिन्होंने अपनी कला को भारत से बाहर विदेशों में पहुंचाया और *कचनी*, रेखा चित्रों में विशेषज्ञता प्राप्त की। उन्हें 1984 में शिल्प के लिए और पद्मश्री पुरस्कार मिला।

महासुंदरी देवी

महासुंदरी देवी बिहार के मधुबनी के रणती गांव से थीं। उन्होंने अपनी चाची से छोटी उम्र में मधुबनी की कला सीखी थी। उन्हें 1982 में राष्ट्रीय पुरस्कार, 1995 में मध्य प्रदेश सरकार द्वारा ''तुलसी सम्मान'' और 2011 में पद्मश्री जैसे कई पुरस्कारों से सम्मानित किया गया। 2013 में उनकी मृत्यु हो गई।

पद्मश्री से सम्मानित कलाकार, श्रीमती महासुंदरी देवी

इस प्रकार हम देखते हैं कि मधुबनी पेंटिंग्स भारत में ही नहीं, वरन् पूरे विश्व में पसंद की जाती हैं। अब ये पेंटिंग पूरे भारत के रिटेल आउटलेक्स में बेची जा रही है। इंटरनेट पॉर्टल के जरिए खरीददारी की शुरुआत होने से ये पेंटिंग्स ऑनलाइन भी ऑडर की जा सकती हैं। इससे न केवल कलाकारों को आजीविका प्राप्त होती है, बल्कि इनके द्वारा हमारी प्राचीन चित्रकला की विरासत का संरक्षण भी हो रहा है।

सुविचार

"भगवान ने हमारे मस्तिष्क और व्यक्तित्व में असीमित शक्तियां और क्षमताएं दी हैं। ईश्वर की प्रार्थना हमें इन शक्तियों को विकसित करने में मदद करती है।"

- ए. पी. जे. अब्दुल कलाम

"इंतजार करने वालों को सिर्फ उतना ही मिलता है जितना कोशिश करने वाले छोड़ देते हैं।"

- ए. पी. जे. अब्दुल कलाम

प्रकृति और अध्यात्म का संगम है पुदुचेरी

डॉ. विनोद बब्बर
पूर्व प्रधानाचार्य, राष्ट्र-किंकर, हस्तसाल रोड, उत्तम नगर, नई दिल्ली

गत दिवस केन्द्रीय हिंदी संस्थान और नागरी लिपि परिषद् के संयुक्त तत्वावधान में पांडिचेरी विश्वविद्यालय में भारतीय भाषाओं और लिपि पर एक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन हुआ। देश के विभिन्न भागों के विद्वानों के साथ मुझे भी इसमें सहभागिता के लिए पांडिचेरी जाने का अवसर प्राप्त हुआ। तमिलनाडु की राजधानी चेन्नई के दक्षिण में 160 किलोमीटर की दूरी पर स्थित केंद्र शासित प्रदेश, पुडुचेरी (पांडिचेरी) बंगाल की खाड़ी के कोरोमंडल तट के साथ स्थित है। इसका क्षेत्रफल 492 वर्ग किमी है। इसकी तुलना एक अन्य केंद्र शासित प्रदेश दिल्ली से करें तो दिल्ली का क्षेत्रफल इससे लगभग तिगुना (1484 वर्ग किमी) है। पांडिचेरी विधानसभा में केवल 30 सदस्य हैं जबकि दिल्ली विधानसभा में 70 सदस्य हैं।

एक पौराणिक कथा के अनुसार पांडिचेरी को कभी वेदपुरी नाम से जाना जाता था। इसे अगस्त्य ऋषि का निवास भी माना जाता है। पांडिचेरी पर चौथी शताब्दी ईस्वी में पल्लव वंश का शासन था। उसके बाद अलग-अलग दक्षिणी राजवंशों, जैसे-चोल, पांड्य, विजयनगर राजा और बाद में मदुरै सल्तनत का भी यहाँ पर शासन रहा। पांडिचेरी ने पुर्तगाली, डच, अंग्रेजी और फ्रेंच समुदाय का ध्यान भी अपनी ओर आकर्षित किया। औद्योगिक क्रांति के बाद सस्ते भाव में कच्चा माल पाने और अपना तैयार माल बेचने की शुरु हुई होड़ में 1673 में यह स्थान फ्रांसीसियों के अधीन आया। लेकिन उसके बाद भी अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच कब्जे को लेकर तनाव बरकरार रहा। वैसे यहाँ अरीकेमेडु में हुई खुदाई के दौरान पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व के रोमन मिट्टी के बर्तन मिले हैं जो यहाँ रोमन लोगों के सम्पर्क को सिद्ध करते हैं। शेष भारत तो 15 अगस्त, 1947 को स्वतंत्र हुआ लेकिन पांडिचेरी 1954 में स्वतंत्र हुआ। आज भी यहाँ फ्रांसीसी सभ्यता, संस्कृति और वास्तुकला की छाप दिखाई देती है। फ्रेंच में बात करते लोगों के अतिरिक्त, वहाँ सड़क पर लगे साइन बोर्डों पर तमिल, अंग्रेजी के साथ-साथ फ्रेंच दिखाई देती है। महर्षि अरविंद की स्मृतियों से जुडे पांडिचेरी का नाम वर्ष 2006 में बदलकर पुदुचेरी कर दिया गया। इस तमिल शब्द का अर्थ है 'नया गांव'।

अध्ययन की दृष्टि से इस शहर को दो भागों में बाँटा जा सकता है। फ्रेंच भाग (यह व्हाइट टाउन या विले ब्लान्चे के नाम से भी जाना जाता है) और भारतीय भाग (यह काले

टाउन या विले नोइरे के नाम से भी जाना जाता है)। अनेक सड़कों के फ्रेंच नाम हैं तथा महलनुमा घरों पर फ्रांसीसी वास्तुकला से बने विला और चर्च हैं। नगर के दूसरे भाग पर प्राचीन तमिल सभ्यता, सस्कृति की छाप वाले श्री मनाकुला विनयागर मंदिर, वरदराजा पेरुमल मंदिर, श्री गोकिलमबल थिरुक्मेश्वर मंदिर, कन्निगा परमेश्वरी मंदिर आदि भव्य मंदिर हैं।

प्रशासनिक दृष्टि से पुदुचेरी शहर, कराईकल, यानम और माहे नामक चार जिलों में विभक्त पुदुचेरी में आधिकारिक रूप से तमिल, तेलगु, मलयालम और फ्रांसीसी भाषाएं प्रयुक्त होती है। लेकिन पर्यटन केन्द्र होने के कारण हिंदी का प्रभाव भी यहाँ तेजी से बढ़ा है। स्थानीय विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में बड़ी संख्या में हिंदी के छात्र और शोधार्थी हैं।

केवल पर्यटन ही नहीं, अपितु आध्यात्मिक और धार्मिक दृष्टि से भी यह स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। इस कारण प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में पर्यटक यहाँ आते हैं। पर्यटकों को सर्वाधिक आकर्षित करने वाले स्थलों में अरबिंदों आश्रम का नाम सर्वप्रथम आता है।

अरबिंदो आश्रम –

पांडिचेरी और अरबिंदो आश्रम जैसे पर्याय बन चुके हैं। यहाँ आने वाला हर पर्यटक यहाँ जरूर आता है। इसलिए अपने प्रवास का शुभारम्भ हमने भी अरबिंदों आश्रम से किया। श्री अरबिंदो घोष ने 24 नवंबर, 1926 को रखी थी। 1872 में बंगाल में जन्में अरविन्द घोष क्रान्तिकारी थे। उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम में भाग लिया। ब्रिटिश सरकार ने उनपर अभियोग चलाया। 1910 में अपने आध्यात्मिक दार्शनिक रूझान के कारण योगी बन पांडिचेरी में आ गये। अपना अधिकांश समय लेखन और ध्यान में बिताया। उन्होंने वेद, उपनिषद, दर्शन, योग पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। विश्व के अनेक देशों के लोग उनकी साधना पद्धति के अनुयायी हैं। 1950 में श्री अरबिंदो घोष के देहावसान के बाद मीरा अल्फासा (माँ) के नेतृत्व में अरबिंदो आश्रम ट्रस्ट इसका ंसचालन करता है। श्री अरबिंदो ने इस आश्रम की स्थापना त्याग के लिए नहीं, बल्कि जीवन के विकास के लिए की जों अनुयायियों को उच्च आध्यात्मिक चेतना से प्रेरित करेगा। इस आश्रम से जुड़े अनुयायी पांडेचेरी में फैले 400 से अधिक भवनों में रहते हुए संस्था द्वारा सौंपे गये कार्य करते हैं। आश्रम के मुख्य भवन में छायादार आंगन के केंद्र में फूलों से ढकी समाधि है। सफेद संगमरमर के दो कक्षों में श्री अरबिंदो और माँ के भौतिक अवशेष रखे है। यह आश्रम प्रातः 8 से 12बजे और दोपहर बाद 2 से 6बजे तक खुलता है। आश्रम में तीन साल से कम उम्र के बच्चों को आने की अनुमति नहीं है। यहाँ आप आपस में बातचीत नहीं कर सकते। फोटोग्राफी मना है। यहाँ के विशाल पुस्तकालय में भी विशेष अनुमति सें प्रवेश पा सकते हैं।

ओरोविले - पांडिचेरी शहर से लगभग 15 किमी दूर तमिलनाडु में स्थित ऑरोविले को एक 'यूनिवर्सल टाउन' (वैश्विक नगर) कहा जाता है, क्योंकि यहाँ पर सभी संस्कृतियों और परंपराओं से संबंधित दुनिया भर से लोग शांति से रहते हैं। 1968 में अरबिंदो की शिष्या मिरा अलफासा द्वारा स्थापित ओरोविले में 195 से अधिक देशों के 2,800 से अधिक लोग आधिकारिक निवासी के रूप में रहते हैं।

राजनिवास- अट्ठारहवी शताब्दी में निर्मित राजनिवास वर्तमान में वहाँ के उपराज्यपाल का निवास है। हालांकि यह आम जनता के लिए खुला नहीं है, परंतु फिर भी इसकी गणना पांडिचेरी के एक प्रमुख पर्यटन स्थल के रूप में होती है। इसके एक परिसर में प्राचीन अदालत का प्रारूप है और यहाँ स्थापित अखंड स्तंभ वर्ष 1751 में गिंगी किले से लाए बताये जाते है।

पुडुचेरी (पांडिचेरी) के समुद्र तट-

यूं तो यहाँ 17 बीच हैं, लेकिन मुख्य 'बीच चार हैं और देश के अन्य बीचों के मुकाबले यहाँ भीड़ कम रहती है। इसलिए ये अपेक्षाकृत साफ-सुथरे भी हैं। पर्यटक यहाँ अनेक प्रकार के वॉटरस्पोर्ट्स का आनंद भी प्राप्त कर सकते हैं। सूर्योदय के समय यहाँ की भूरी मिट्टी के बाद नीले अनंत समुद्र से ऊपर की ओर उठते हुए लाल सूर्य को निहारना सुखद प्रतीत होता है।

पेराडाइज बीच - मुख्य नगर से 8 किलोमीटर की दूरी पर कुड्डलोर मेन रोड के निकट चुन्नमबार में स्थित पेराडाइज बीच के एक ओर छोटी खाड़ी है। यहाँ केवल नाव द्वारा ही जाया जा सकता है। नौका विहार करते हुए झील में डॉल्फिन के करतब देखना सुखद प्रतीत होता है। यहाँ के प्राकृतिक दृश्यों और सुंदर वातावरण 'पेराडाइज' (स्वर्ग) नाम की सार्थकता को सिद्ध करता है।

ऑरोविले बीच - यह समुन्द्र तट पुदुचेरी से 12 किलोमीटर दूर ऑरोविले के निकट है। यहाँ समुद्र गहरा नहीं है। इसलिए तैरने के शौकीनों का पसंदीदा स्थान है। सप्ताहांत तथा छुट्टी के दिनों में यहाँ बहुत भीड़ रहती है।

प्रोमेनेड बीच - प्रोमेनेड बीच गौबर्ट एवेन्यू पर वॉर मेमोरियल से डुप्लेक्स पार्क तक फैली है। इसके आसपास के आकर्षक स्थलों में वार मेमोरियल, जॉन ऑफ आर्क की प्रतिमा, हेरिटेज टाउन हॉल, पुराने लाइटहाउस, महात्मा गांधी की प्रतिमा स्थापित है।

सैरीनीटी बीच कोट्टाकुप्पम में पुदुचेरी के बाहरी क्षेत्र में 10 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। इस बीच को मूल रूप से इस समुद्र तट को थंथीरयन कुप्पम बीच या सादे कोट्टाकुपम बीच के रूप में जाना जाता है। समुद्र तट की रेत पर लेटकर धूप का आनंद लेने वालों के लिए यह स्थल विशेष महत्व रखता है। शहर से दूर होने के कारण यहाँ भीड़ नहीं रहती।

बॉटेनिकल गार्डन- सी.एस. पेरोटेट द्वारा वर्ष 1862 में स्थापित बॉटेनिकल गार्डन में देश और दुनिया के अनेक देशों से लाये गये पौधों की विशाल श्रृंखला है और यहाँ बने एक्वेरियम में अनन्त प्रकार के जलीय जीव देखे जा सकते हैं।

यहाँ दो लाइटहाउस हैं, एक पुराना और एक नया। मार्च 1836 में ए गुएरे के मार्गदर्शन में निर्मित पुराने लाइट हाउस को 1979 में सार्वजनिक रूप से बंद कर दिया गया था। अपने समय में यह असाधारण था। उसी वर्ष 157 फुट ऊंचा नया लाइटहाउस बनाया गया। यह स्थान सांस्कृतिक कार्यक्रमों, संगीत कार्यक्रमों और व्यावसायिक गतिविधियों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के अद्भुत पक्षियों के लिए जाना जाता है। यह पांडिचेरी का सबसे लोकप्रिय दर्शनीय स्थल है।

गोबर्ट एवेन्यू में स्थित फ्रेंच वॉर मैमोरियल में प्रथम विश्व युद्ध में शहीद हुए सैनिकों की स्मृति में चार स्तंभ हैं। इनसे कुछ दूरी पर जोसेफ़ फ्रांककोसिस की याद में बना स्टेच्यू ऑफ़ डूप्लेक्स है। हर साल 14 जुलाई को होने वाले समारोह के दौरान इसे बहुत ही खूबसूरती के साथ सजाया जाता है। पांडिचेरी म्यूज़ियम में प्राचीन समय के फ्रांस, ब्रिटेन और डच आदि शासकों के दौर के कुछ दुर्लभ दस्तावेज और ऐतिहासिक वस्तुएं मौजूद हैं।

आयी मंडपम पुदुचेरी के बीचों बीच स्थित एक खूबसूरत स्थल है। पार्क के केंद्र में बने सफेद भवन का निर्माण नेपोलियन तृतीय के शासन काल में हुआ था। ग्रीक-रोमन वास्तुकला का उत्कृष्ट उदाहरण कहे जाने वाले इस स्मारक का नामकरण महल में काम करने वाली एक महिला के नाम पर है। कहा जाता है कि उस महिला ने अपने घर के स्थान पर एक जलकुंड बनाया था जिसका जलग्रहण कर नेपोलियन भी कभी बहुत प्रसन्न हुए तो उन्होंने खुश होकर स्मारक का नाम आयी मंडपम घोषित किया।

मुख्य पुदुचेरी के 4 किलोमीटर दक्षिण में स्थित अरिकमेडु स्थानीय लोगों के रोमन कॉलोनियों के साथ व्यापार का केन्द्र था। यहाँ स्थानीय व्यापारी विदेशी शराब के बदले में कपड़ा, बहुमूल्य रत्न और आभूषण उन्हें बेचा करते थे। आज भी यहाँ 18वी. शताब्दी के फ्रेंच जेसूट मिशन हाउस के खंडहर देखे जा सकते हैं। इस फ्रेंच जेसूट मिशन हाउस को 1783 में बंद कर दिया गया था।

दक्षिणी पांडिचेरी के प्राचीन भवनों में एक आनंद रंगा पिल्लई महल फ्रांसीसी गवर्नर का निवास था। 1738 में निर्मित इस महल का वास्तुशिल्प भारतीय और फ्रेंच शैली का अनूठा मिश्रण है। यह उल्लेखनीय है कि आनंद रंगा पिल्लई द्वारा लिखी डायरियाँ 18 वीं शताब्दी के फ्रांस और भारत के बीच संबंधों के बारे में जानकारी देती हैं।

1754 में यहाँ के गवर्नर रहे फ्रेंकॉइस डुप्लेक्स की स्मृति में 2.88 मीटर ऊंची ग्रेनाइट की प्रतिमा गौवर्ट एवेन्यू पर स्थित है।

ओस्टरी झील- ओसुडु गांव में ओस्टरी वेटलैंड और नेशनल पार्क पांडिचेरी की लोकप्रिय फ्रेश वॉटर झील है। यहाँ अनेक प्रकार के पक्षियों को प्राकृतिक वातावरण में कलरव करते हुए निहारा जा सकता है।

पांडिचेरी में अनेक प्रसिद्ध चर्च और मंदिर भी हैं। यहाँ के प्रमुख चर्च हैं- 'एगलाइस दि नोत्रे देस एंजल्स,' 'दि चर्च ऑफ सैक्रेड हॉर्ट ऑफ जीसस,' 'दि कैथेड्रल ऑफ आवर लेडी ऑफ इम्मेक्यूलेट कॉनसेप्शन'। 'बेसिलिका ऑफ़ द सेक्रेड हार्ट ऑफ़ जीसस' चर्च पांडिचेरी के सबसे पवित्र और धार्मिक स्थलों में से एक है जो शहर में दक्षिण बुलेवार्ड पर पांडिचेरी बस स्टेशन से 2.5 किमी दूर स्थित है। भारत में 21 बेसिलिका में एक पांडिचेरी में स्थित यह चर्च 1908 में फ्रांसीसी मिशनरियों द्वारा स्थापित किया गया था, जिसे बाद में 2011 में बेसिलिका का दर्जा दिया गया था। नववर्ष, क्रिसमस और ईस्टर दिवस जैसे अवसरों पर इन चर्चो को भव्य तरीके से सजाया जाता है।

प्रमुख मंदिरों में **मनाकुला विनयागर मंदिर** - फ्रेंच लोगों के आने के पूर्व का भगवान गणेश को समर्पित प्रसिद्ध तीर्थ है। मनाकुला तमिल शब्द है। (मनल का मतलब बालू और कुलन का मतलब सरोवर है)। कभी गणेश मूर्ति के आसपास बालू ही बालू था। इसलिए इसे मनकुला विनयागर कहा गया। 8000 वर्ग फीट के इस मंदिर में मुख्य गणेश प्रतिमा के अलावा 58 विभिन्न मुद्राओं वाली गणेश मूर्तियां और गणेश जी का भव्य रथ है जिसके निर्माण में साढ़े सात किलोग्राम सोना प्रयोग किया गया है। आंतरिक दीवारों पर प्रसिद्ध चित्रकारों द्वारा गणेश जी के जीवन से जुड़े दृश्य उकेरे गये हैं। कहा जाता है कि एक फ्रांसीसी ने मंदिर से मूर्ति हटाने का प्रयास किया लेकिन मूर्ति पुनः वहाँ प्रकट हो जाती थी। इस शक्ति से प्रेरित होकर वह भी यहाँ का भक्त बन गया।

श्री वरदराजा पेरुमल मंदिर - विष्णु के 108 दिव्य देशम में से एक इस मंदिर को चोल राजाओं ने 1053 में बनवाया था। इस मंदिर में नवजात शिशु को लाकर भगवान के सम्मुख चावल खिलाने की परम्परा है। माना जाता है कि ऐसा करने से बच्चा अपने पूरे जीवन के लिए उनके संरक्षण में रहेगा।

श्री गोकिलम्बल थिरुक्मेश्वर मंदिर - विलियानुर में स्थित इस मंदिर से 15 मीटर लंबे रथ पर मई माह की पूर्णिमा को भव्य शोभायात्रा आयोजित की जाती है। दूर-दूर से लोग इस कार्यक्रम में भाग लेने आते हैं। इस दौरान भगवान थिरुक्मेश्वर गोकिलम्बल की प्रतिमा को सजे हुए रथ में लाकर विशेष पूजा के बाद प्रसादम अर्पित किया जाता है। जनविश्वास के अनुसार कुष्ठ रोग से पीड़ित चोल राजा ने

भगवान शिव के आशीर्वाद से ठीक होने के लिए इस मंदिर में प्रार्थना की थी। इस उत्सव के दौरान भगवान के रथ को खींचने वाले भक्त की इच्छाएं पूरी होती हैं। यह यात्रा फ्रेंच शासन काल के दौरान भी जारी रही। उस समय गवर्नर फ्रेंच स्वयं इस रथ को खींचते थे। आज भी पुदुचेरी के उपराज्यपाल भी इस उत्सव में भाग लेते हैं।

कन्निगा परमेश्वरी मंदिर - कमाची अमान स्ट्रीट स्थित पारंपरिक दक्कन वास्तुकला तथा फ्रांसीसी शैली के मिश्रण वाला यह मंदिर देवी शक्ति को समर्पित है जोकि देवी काली का ही एक रूप है। गर्भगृह की आंतरिक छत तमिल वास्तुकला की पारंपरिक शैली का है जहां ग्रेनाइट स्तंभों पर आकृतियाँ हैं। मंदिर की दीवारें धनुषाकार और अलंकृत हैं और स्वर्गदूतों और उन पर डिजाइन किए गए स्वर्गीय प्राणियों से सुशोभित हैं। अपनी भव्यता और विशिष्टता वाले सदियों पुराने इस मंदिर परिसर में विवाह का विशेष महत्व है। यह वेदपुरेश्वर मंदिर और वरदराजा पेरुमल मंदिर के बहुत निकट है।

वेदपुरेश्वर मंदिर - चेय्या नदी के तट पर निर्मित यह मंदिर भगवान वेदुपीरेश्वर को समर्पित है। इस मंदिर में एक नंदी बैल है जो शिव लिंगम की विपरीत दिशा में है। मंदिर में दो गलियारे, पांच राजगोपुरम और दीवारों पर लगे शिलालेख इसके चोल काल के होने का प्रमाण हैं। इस क्षेत्र में चंदन की बहुतायत के कारण इसे सांता नारायणम के नाम से भी जाना जाता है।

शिंजी - पुदुचेरी के उत्तर पश्चिम में स्थित विल्लुपुरम जिले का 800 फीट ऊंचा यह विशाल किला तीन पहाड़ियों (राजगिरी, कृष्णागिरी और चंद्रायन दुर्ग) तक विस्तृत है। किले का मुख्य हिस्सा राजगिरी पहाड़ पर है जो तीनों पहाड़ों में से सबसे बड़ा है। किले के अंदर अन्नभंडार गृह, शस्त्रागार, टैंक और मंदिर है। इसका प्रवेश द्वार कल्याण महल के सामने है। लगभग 700 मी. की ऊँचाई पर एक पुल है जो किले को अन्य इमारतों से जोड़ता है। इतनी ऊँचाई से नीचे शिंजी नगर को देखना रोमांचित कर देता है।

पुदुचेरी के दक्षिण में राष्ट्रीय राजमार्ग 45ए पर स्थित चिदम्बरम 10वीं शताब्दी में निर्मित शिव मंदिर के लिए प्रसिद्ध है। चोल राजा परांतका प्रथम ने इस मंदिर पर सोने मड़वाया जिससे यह मंदिर सूर्य के प्रकाश में खूब जगमगाता है। इस मंदिर में शिव की शुभनायक नटराज और अक्षलिंगम रूप की पूजा की जाती है। यहाँ का प्रसिद्ध रथ त्योहार के लिए प्रसिद्ध है।

इनके अतिरिक्त भी, वहाँ धार्मिक महत्व के अनेक दर्शनीय स्थल हैं। सबके दर्शन एक बार में करना संभव नहीं है। इसलिए पुदुचेरी बार-बार आने के लिए प्रेरित करता है। पांडिचेरी घूमने के लिए कभी भी जाया जा सकता है परंतु ग्रीष्मकाल काफी गर्म होने की वजह से उतना

आनंद नहीं रहेगा। इसलिए अक्टूबर से मार्च का मौसम ज्यादा अनुकूल है। दिसंबर में अंतरराष्ट्रीय योग महोत्सव, अगस्त महीने के दौरान फ्रेंच खाद्य महोत्सव और जनवरी में शॉपिंग फेस्टिवल के दौरान अच्छी भीड़ रहती है। हर पर्यटन स्थल के निकट हस्तशिल्प, कपड़े, पत्थर, लकड़ी की मूर्तियाँ, मैट, मिट्टी के बर्तन, इत्र, अगरबत्तियाँ, शीशे की कलात्मक वस्तुएं, दीपक, मोमबत्तियाँ आदि वस्तुएं मिलती हैं।

******

लोक कथा- कड़वा सच

प्राचीन भारत की एक लोककथा है। किसी राज्य में एक राजा था। वो बहुत ही धार्मिक और वीर था। राजा में कई गुण थे। एक दिन उसके दरबार में एक ज्योतिषी आया। किसी मंत्री ने बताया कि ये बहुत ही सिद्ध ज्योतिषी हैं, इनकी भविष्यवाणियां हमेशा सच होती है। राजा की उत्सुकता बढ़ गई। उसने ज्योतिषी को अपने महल में बुलवाया। महल में राजा ने अपनी कुंडली दिखाई। ज्योतिषी बहुत देर तक कुंडली का अध्ययन करता रहा, फिर उसने राजा को कहा कि महाराज आपका तो जीवन ही बेकार है, आपके सारे रिश्तेदार आपके सामने ही मारे जाएंगे। आप अपने वंश में अकेले रह जाएंगे।

ज्योतिषी की बात सुन राजा को बहुत धक्का लगा। वो निराशा में चला गया। उसका काम में मन नहीं लगता था। दरबार में भी अनमना सा रहने लगा। यह देख सारे मंत्री परेशान हो गए। लेकिन किसी की हिम्मत नहीं हुई कि राजा से कुछ पूछ सके। एक दिन मणिराज नाम के एक समझदार मंत्री ने एकांत देखकर राजा से उसकी उदासी का कारण पूछ ही लिया। राजा ने कहा कि उस ज्योतिषी ने कहा है कि मेरा पूरा परिवार मेरे सामने ही खत्म हो जाएगा। इस बात से मुझे गहरा सदमा लगा है। मैं परिवार की सुरक्षा को लेकर परेशान हूं। मंत्री समझ गया कि राजा किसी कारण से परेशान है। उसने कहा महाराज मैं एक पंडित जगन्नाथ जी को जानता हूं, वे भी बहुत सिद्ध हैं। मेरे ख्याल से एक बार उनसे भी बात करनी चाहिए।

राजा ने कहा ठीक है। उन्हें भी बुलवा लो। पंडित जगन्नाथ को बुलाया गया। मंत्री ने सारी परेशानी बताई। पुराने पंडित की भविष्यवाणी भी बताई। पंडित जगन्नाथ ने भी राजा की कुंडली देखी। उसने पाया कि पुराने पंडित ने सही भविष्यवाणी की थी। लेकिन, अब वो राजा को ये नहीं बता सकता था कि उसके सारे रिश्तेदार उसके सामने ही मर जाएंगे और वो कोई झूठ भी नहीं बोल सकता था। उसने दो घड़ी विचार किया। फिर चेहरे पर चमक लाकर बोला, "महाराज, आपकी कुंडली में तो दुःख का कोई योग है ही नहीं, आप लंबे समय तक राज करेंगे। आपका राज्य लगातार बढ़ेगा, सालों साल आप सिंहासन की शोभा बढ़ाएंगे। धन और आयु में भी आप अपने पूरे कुटुंब में सबसे आगे रहेंगे। आपकी जितनी आयु पूरे कुटुंब में किसी के भाग्य में नहीं होगी। आपकी कुंडली में मुझे कुछ गलत नहीं दिख रहा।"

पंडित जगन्नाथ ने पुराने पंडित की बात दोहराई कि राजा के जीते-जी उसके सारे रिश्तेदार मर जाएंगे, ये कह कर कि पूरे कुटुंब में उससे ज्यादा किसी की आयु नहीं। लेकिन राजा को पंडित की बात सुन काफी संतोष हुआ। उसे खूब सारा इनाम भी दिया।

कहानी का सार

जरूरी नहीं है कि कड़वा सच कड़वे तरीके से ही कहा जाए। कई बार बोलने का तरीका बात के असर को बदल देता है। अगर सच्चाई कड़वी है या कोई कठोर सत्य है तो उसे भी हल्के तरीके से बताया जा सकता है।

जगद्गुरु आदि शंकराचार्य और चार मठ

डॉ. राज किशोर सक्सेना
साहित्यकार, खटीमा,
ऊधम सिंह नगर, उत्तराखंड

भारतीय धार्मिक संस्कृति में समय समय पर अनेक उतार चढाव आते रहे हैं। विश्व में प्रचलित अनेक मत-मतान्तरों का प्रादुर्भाव भी भारत की ही देन है और समय समय पर भारत में भी सनातन धर्म के नवउद्धारक अवतरित होते रहे हैं। यह क्रम अनवरत रूप से चलता रहा है और इसी कारण सनातन संस्कृति में बहुत से देव तथा उपदेव प्रतिस्थापित होते चले गये। यहाँ तक कि अनीश्वरवाद और अघोरपंथ की भी मान्यताएं अनवरत रूप से चलीं।इसी क्रम में मान्यता है कि सनातन संस्कृति के पुनर्स्थापक जगद्गुरु आदि शंकराचार्य अद्वैत वेदांत के प्रणेता, मूर्तिपूजा के पुनर्स्थापक और पंचायतन पूजा के आदि प्रवर्तक का जन्म ईसवी सन से 507 वर्ष पूर्व अर्थात् आज से 2527 वर्ष पहले जगद्गुरु आदि शंकराचार्य के रूप में भारत के केरल क्षेत्र के कलाडि ग्राम में हुआ था। उपनिषदों और वेदांत सूत्रों पर आदिगुरु शंकराचार्य की लिखी हुई टीकाएँ निर्विवाद एवं स्वयंसिद्ध हैं। इन्होंने भारतवर्ष में चार मठों की स्थापना की थी जो अभी तक सनातन धर्म के प्रतीक और सर्वाधिक पवित्र माने जाते हैं। आपने अनेक विधर्मियों को भी अपने धर्म में दीक्षित किया था। ब्रह्मसूत्रों की बड़ी ही विशद और रोचक व्याख्या की। उनके विचारोपदेश आत्मा और परमात्मा की एकरूपता पर आधारित हैं जिसके अनुसार परमात्मा एक ही समय में सगुण और निर्गुण दोनों ही स्वरूपों में रहता है। स्मार्त संप्रदाय में आदि शंकराचार्य को शिव का अवतार माना जाता है। इन्होंने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, मांडूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक और छान्दोग्योपनिषद् पर भाष्य लिखा। वेदों में लिखे ज्ञान को एकमात्र ईश्वर को संबोधित समझा और उसका प्रचार तथा वार्ता पूरे भारत में की। उस समय वेदों की समझ के बारे में मतभेद होने पर उत्पन्न चार्वाक, जैन और बौद्धमतों को शास्त्रार्थों द्वारा खण्डित किया और इस परम्परा को निरन्तरता प्रदान करने के लिए भारत में चार कोनों पर ज्योति, गोवर्धन, शृंगेरी एवं द्वारिका आदि चार मठों की स्थापना की। कलियुग के प्रथम चरण में विलुप्त तथा विकृत वैदिक ज्ञानविज्ञान को उद्भासित और विशुद्ध कर वैदिक वाङ्मय को दार्शनिक, व्यावहारिक, वैज्ञानिक धरातल पर समृद्ध करने वाले एवं राजर्षि सुधन्वा को सार्वभौम सम्राट ख्यापित करने वाले चतुराम्नाय-चतुष्पीठ संस्थापक नित्य तथा नैमित्तिक युग्मावतार श्रीशिवस्वररूप भगवत्पाद शंकराचार्य की अमोघदृष्टि तथा अद्भुत सुकृति सर्वथा स्तुत्य है। कलियुग की अपेक्षा त्रेता में तथा त्रेता की अपेक्षा द्वापर में, द्वापर की अपेक्षा कलि में

मनुष्यों की प्रज्ञाशक्ति तथा प्राणशक्ति एवं धर्म और आध्यात्म का ह्रास सुनिश्चित है। यही कारण है कि कृतयुग में शिवावतार भगवान दक्षिणामूर्ति ने केवल मौन व्याख्यान से शिष्यों के संशयों का निवारण किया। कलियुग में भगवत्पाद श्रीमद् शंकराचार्य ने भाष्य, प्रकरण तथा स्तोत्रग्रन्थों की संरचना कर, विधर्मियों-पन्थायियों एवं मीमांसकादि से शास्त्रार्थ, परकायप्रवेशकर, नारदकुण्ड से अर्चाविग्रह श्री बदरीनाथ एवं भूगर्भ से अर्चाविग्रह, श्रीजगन्नाथ दारुब्रह्म को प्रकटकर तथा प्रस्थापित कर, सुधन्वा सार्वभौम को राजसिंहासन समर्पित कर एवं चतुराम्नाय - चतुष्पीठों की स्थापना कर अहर्निश अथक परिश्रम के द्वारा धर्म और आध्यात्म को उज्जीवित तथा प्रतिष्ठित किया। व्यासपीठ के पोषक राजपीठ के परिपालक धर्माचार्यों को आदि शंकराचार्य ने नीतिशास्त्र, कुलाचार तथा श्रौत-स्मार्त कर्म, उपासना तथा ज्ञानकाण्ड के यथायोग्य प्रचार-प्रसार की भावना से अपने अधिकार क्षेत्र में परिभ्रमण का उपदेश दिया। उन्होंने धर्मराज्य की स्थापना के लिये व्यासपीठ तथा राजपीठ में सद्भावपूर्ण सम्वाद के माध्यम से सामंजस्य बनाये रखने की प्रेरणा प्रदान की। ब्रह्मतेज तथा क्षात्रबल के साहचर्य से सर्वसुमंगल कालयोग की सिद्धि को सुनिश्चित मानकर कालगर्भित तथा कालातीतदर्शी आदिगुरु शंकर ने व्यासपीठ तथा राजपीठ का शोधन कर दोनों में सैद्धान्तिक सामंजस्य साधने का अकल्पनीय सद्कार्य किया। .

आदि शंकर के पिता का नाम शिवगुरु और माता का नाम आर्याम्बा था। वायुपुराण और शिव पुराण में शंकराचार्य को शिव का ही अवतार माना गया है। कुल मिला कर केवल बत्तीस वर्ष की आयु उन्हें प्राप्त हुई थी। जब शंकर 5 वर्ष के बालक थे तब इनका यज्ञोपवीत संस्कार हो गया और ये गुरुकुल में जाकर वेद अध्ययन करने लगे। 6 वर्ष की छोटी आयु में आदि शंकर ने कनकधारा स्तोत्र की अलभ्य रचना की। शंकराचार्य ने कनकधारा स्तोत्र के द्वारा माता लक्ष्मी को प्रसन्न किया। कनक का अर्थ है 'स्वर्ण' माँ लक्ष्मी ने प्रसन्न होकर स्वर्ण के आँवले की वर्षा करके इस गरीब ब्राह्मण परिवार की निर्धनता दूर की। एक ज्योतिषी ने बालक शंकर की जन्मकुण्डली को देख कर बताया की शंकर की कुण्डली में 8 वर्ष, 16 वर्ष और 32 वर्ष की आयु में ये 3 मृत्युयोग हैं। जब बालक शंकर की आठ वर्ष की आयु पूर्ण हुई तो नदी में स्नान करते समय एक मगरमच्छ ने बालक शंकर का पैर पकड़ लिया। तब माता आर्याम्बा ने पुत्र शंकर को भगवान की शरण में जाकर संन्यास की आज्ञा दी। नदी के अंदर ही आठ वर्ष की आयु में बालक शंकर ने संन्यास ले लिया। और उस आतुर संन्यास के पुण्य प्रभाव से आदि शंकर का आठ वर्ष की आयु का प्रथम मृत्यु योग नष्ट हो गया और मगरमच्छ ने उनको छोड़ दिया। बालक शंकर मुक्त हो गये और माता आर्याम्बा से विदा ली। माँ ने रोते हुए विदा दी। बालक शंकर शिष्यत्व पाने योगी गोविन्दपाद के

पास गये, बालक की योग्यता देख कर गुरु गोविंदपाद ने कृपा कर बालक शंकर को अपना शिष्य बनाया और 8 अंगों से युक्त अष्टांग हठयोग की दीक्षा दी। एक वर्ष के अंदर नौ वर्ष की आयु में ही शंकराचार्य ने अष्टांग हठयोग में पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर ली। फ़िर दूसरे वर्ष गुरु गोविंदपाद ने बालक शंकर कों सोलह अंगों से, ज्ञान की सात भूमिकाओं से युक्त सभी योगों के राजा, राजयोग की दीक्षा देनी प्रारम्भ की। एक वर्ष के अंदर दस वर्ष की आयु में ही बालक शंकर ने सोलह अंगों एवम ज्ञान की सात भूमिकाओं वाले राजयोग में पूर्ण सिद्धि विधिवत प्राप्त की। फ़िर तीसरे वर्ष गुरु गोविंदपाद ने बालक शंकर कों ज्ञानयोग की शिक्षा देनी प्रारंभ की। एक वर्ष के अंदर ग्यारह वर्ष की आयु में बालक शंकर ने ज्ञानयोग में पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर ली और निर्विकल्प समाधि को सिद्ध करके निराकार निर्विकार निर्गुण परब्रह्म का साक्षात्कार किया। शंकर अब पूर्ण ब्रह्मज्ञानी हो गये थे और उन्होंने आत्मा-परमात्मा के बाद ब्रह्म और जीव के एकत्व का अनुभव कर लिया था। इसके बाद चौथे वर्ष गुरु गोविंदपाद ने शिष्य शंकर को गुरु परम्परा से प्राप्त महर्षि बादरायण वेदव्यास द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र की विधिवत शिक्षा दी और शिष्य शंकर को आदेश दिया की तुम ब्रह्मसूत्र(वेदांत दर्शन) और उपनिषद् एवम गीता पर भाष्य लिखो। उस समय शंकराचार्य की आयु मात्र 12 वर्ष की थी। गुरु गोविंदपाद ने अपने समाधियोग के द्वारा अपने शरीर का त्याग किया और ब्रह्मस्वरूप में लीन हो गये तब शंकराचार्य गुरु गोविंदपाद की आज्ञा मानकर हिमालय पर्वत पर बदरिकाश्रम क्षेत्र (जोशीमठ) गये और 4 वर्ष के अंदर व्यास जी द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र जिसको वेदांत दर्शन भी कहते हैं, उस ब्रह्मसूत्र पर शारीरक भाष्य लिखा, उन्होंने ईश, केन, कठ इत्यादि 11 उपनिषदों पर भाष्य भी लिखा। श्रीमद्भगवदगीता पर भाष्य लिखा। इस प्रकार 16 वर्ष की आयु तक बदरिकाश्रम क्षेत्र में आदि शंकराचार्य प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिख चुके थे। बदरिकाश्रम क्षेत्र में माणा गाँव में सरस्वती नदी के किनारे व्यास गुफा है जहाँ आज से लगभग 5200 वर्ष पूर्व श्री कृष्ण द्वैपायन महर्षि वेदव्यास ने चार वेदों का विस्तार, विभाजन कर उन्हें लिपिबद्ध किया था तथा 18 महापुराण, महाभारत और ब्रह्मसूत्र(ब्रह्ममीमांसा) की रचना की थी। बदरी क्षेत्र में निवास करने के कारण महर्षि वेदव्यास जी को "बादरायण" भी कहा जाता है।

जब आदि शंकर 16 वर्ष के हो गये तब बदरीनाथ क्षेत्र में महर्षि बादरायण वेदव्यास जी एक सामान्य ब्राह्मण का रूप लेकर आदि शंकराचार्य की परीक्षा लेने आये। महर्षि वेदव्यास जी यह जानना चाहते थे कि मेरे द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र पर शंकराचार्य ने जो भाष्य लिखा है वो कितना सही अर्थ में लिखा हुआ है। इसीलिए सामान्य ब्राह्मण के रूप में व्यासजी ने ब्रह्मसूत्र के तृतीय पाद के तृतीय अध्याय के प्रथम सूत्र पर आदि शंकराचार्य से प्रश्न किया और इस एक ही सूत्र पर ब्राह्मणरूपी व्यास जी एवम आदि

शंकराचार्य का 8 दिनों तक शास्त्रार्थ हुआ। तब आदि शंकर और उनके शिष्यों को अनुभव हुआ कि ये कोई साधारण ब्राह्मण नहीं हैं बल्कि स्वयं महर्षि बादरायण वेदव्यास जी हैं और परीक्षा लेने के लिये आये हुए हैं। तब आदि शंकर ने व्यास जी को असली स्वरूप में प्रकट होकर दर्शन देने की प्रार्थना की। महर्षि व्यासजी ने आदि शंकराचार्य को दर्शन दिया और ब्रह्मसूत्र पर लिखे शारीरक शांकर भाष्य को आद्योपांत निरीक्षित करने के पश्चात ही महर्षि व्यास जी ने शारीरक भाष्य को पूर्ण मान्यता दी। शंकराचार्य की 16 वर्ष की आयु में मृत्यु योग था। आदि शंकर समाधियोग के द्वारा शरीर त्याग करना चाहते थे परंतु महर्षि व्यास जी ने शंकराचार्य के मृत्युयोग को नष्ट करके 16 वर्ष की आयु और बढ़ा दी। महर्षि वेदव्यास जी ने आदि शंकराचार्य को आदेश दिया कि 'अब तुम 17 वर्ष की आयु से 32 वर्ष की आयु तक दिग्विजय करो, सनातन वैदिक धर्म की पुनर्स्थापना करो, अद्वैत वेदांत का प्रचार करो, नास्तिक मत का खण्डन करो और आस्तिक मत की स्थापना करो'। व्यास जी का आदेश मिलने पर आदि शंकराचार्य ने धर्मदिग्विजय करना प्रारम्भ किया। इस बीच उन्होंने बहुत से प्रकरण ग्रन्थों की संरचना भी की। प्रपंचसार नामक ग्रन्थ तन्त्र की दृष्टि से लिखा। आदि शंकराचार्य श्री विद्या के उच्च कोटि के उपासक हुए। आदि शंकराचार्य ने श्री विद्या के सर्वोत्तम तांत्रिक ग्रंथ सौन्दर्य लहरी, आनंद लहरी की रचना की और श्री विद्या में पूर्ण सिद्धि प्राप्त की। आदि शंकर ने अपने चार शिष्यों को श्री विद्या में दीक्षित किया। आत्म बोध, तत्व बोध, उपदेश सहस्री, पन्चीकरण, अपरोक्षानुभूति आदि वेदान्त ग्रंथों की रचना की। सनातन साकार देवी देवताओं की उन्होंने अनेक स्तुतियां भी लिखीं। शिव मानस पूजा, परा पूजा, अन्नपूर्णा स्तोत्र चर्पट पंजरिका और द्वादश पंजरिका(भज गोविंदम), निर्वाण षटकम जैसे स्तोत्रों की रचना की। कालक्रम से विकृत ज्ञान-विज्ञान को उन्होंने परंपरा प्राप्त अद्भुत मेधा शक्ति के बल पर विशुद्ध किया और कालक्रम से विलुप्त ज्ञान विज्ञान को प्रकट किया। उस समय बौद्ध,जैन, कापालिक और विविध द्वैतवादियों का बहुत ही प्रभाव था। बौद्ध, जैन, चार्वाक आदि नास्तिक मतवादियों को शास्त्रार्थ कर परास्त किया और नास्तिक मत का खण्डन किया। जगद्गुरु आदि शंकराचार्य ने बौद्ध दार्शनिक आचार्य नागार्जुन के शून्यवाद का खण्डन किया और अपने अद्वैत सिद्धांत को स्थापित किया और सनातन वैदिक धर्म की पुनर्स्थापना की।

भारतीय संस्कृति में बत्तीस विद्या, चौंसठ कला जीवित रहें, इस हेतु देश की चारों दिशाओं में चार पीठ स्थापित कर इसका दायित्व चारों पीठों को उन्होंने प्रदान किया। सन्यास आश्रम जो श्रौत है उसको परखकर उन्होंने चार पीठों के तो एक एक आचार्य बनाया ही उन्हें शंकराचार्य का पद भी प्रदान किया अर्थात् जगदगुरु शंकराचार्य पद पर पदासीन किया। जगद्गुरु आदि शंकराचार्य के चार शिष्य थे,1.पद्मपादाचार्य 2.सुरेश्वराचार्य 3.हस्तामलकाचार्य 4.त्रोटकाचार्य।

जगद्गुरु आदि शंकराचार्य के समाधियोग के द्वारा शरीर त्यागने के बाद यही चार शिष्य चार शंकराचार्य हुए। सत्तर श्लोंकों में उन्होंने चारों मठों के संचालन का संविधान मठाम्नाय सेतु मठाम्नाय महानुशासनम् के रूप में निर्धारित किया। एक एक मठ से सम्बद्ध एक एक देवी , एक एक क्षेत्र , एक एक गोत्र उन्होंने प्रख्यापित किया, जैसे राजधानी ही राष्ट्र का क्षेत्रफल मान्य है, इसी प्रकार ये चार धार्मिक, आध्यात्मिक राजधानियाँ बनाकर उनके साथ पूरे भूमण्डल को जोड़ा। अंग्रेजों ने भगवान शंकराचार्य का जो काल ख्यापित किया है वो उनकी कूटनीति का परिणाम है। जिस समय आदि शंकराचार्य महाप्रभु का आविर्भाव हुआ उस समय न तो विश्व में मोहम्मद हुए थे और न ही ईसा मसीह या उनके पूर्ववर्ती कोई थे। भगवतपाद शंकराचार्य महाभाग ने युधिष्ठिर जी की परंपरा में उत्पन्न सम्राट सुधन्वा जो कि बौद्धों के संसर्ग में आकर बौद्ध सम्राट हो गये थे और वैदिक धर्म के पतन के साथ उच्छेदन में भी अपनी राजशक्ति का उपयोग कर रहे थे, कुमारिल भट्ट के सहित प्रभु शंकराचार्य महाभाग ने उनके हृदय और मस्तिष्क का परिशोधन कर सनातन वैदिक आर्य सम्राट के रूप में उन्हें प्रतिस्थापित किया और चारों पीठों की मर्यादा सुरक्षित रहे, इसका भी दायित्व प्रदान किया। इसके साथ ही शंकराचार्य जी ने सन्यासियों के दस प्रभेद प्रख्यापित किए। गोवर्धन मठ पुरीपीठ से सम्बद्ध वन और अरण्य दो प्रकार के सन्यासियों को यह दायित्व दिया गया कि वन और अरण्य सुरक्षित रहें, वनवासी और अरण्यवासी निर्विघ्न रहें। विधर्मियों की संस्कृति न पनपे। महाभारत में वनपर्व के अंतर्गत अरण्य पर्व है। छोटे वन का नाम अरण्य होता है और बृहदारण्य का नाम वन होता है। पर्यावरण की दृष्टि से शंकराचार्य जी ने वन अरण्य को बहुत महत्व दिया क्योंकि सात द्वीपों वाली पृथ्वी है, द्वीपों का जो विभाग और नामकरण है, वह वृक्ष, वनस्पति के नाम पर, स्थावर प्राणी के नाम पर है। यथा जम्बूद्वीप, कुशद्वीप इत्यादि, इसी प्रकार से पर्वत के नाम पर क्रौंच द्वीप जैसे कहा गया और सागर में क्षीर सागर भी है और क्षारसिन्धु भी है, इस प्रकार जल को लेकर, पर्वत को लेकर और वृक्ष वन को लेकर द्वीपों का विभाग पहले ही कर दिया गया था। इसी दृष्टि से भगवतपाद् शंकराचार्य महाभाग ने वन और अरण्य तथा वनवासी और अरण्यवासियों को सुरक्षित रखने की भावना से और विधर्मियों की पैठ वनारण्य में ना हो सके, इस भावना से वन अरण्य नामा सन्यासियों को प्रतिस्थापित किया। शिक्षण संस्थान की दृष्टि से सरस्वती और भारतीनाम से दो दो सन्यासियों को प्रख्यापित किया। उच्च शिक्षण संस्थान की दृष्टि से सरस्वती नामक सन्यासी, मध्यम आवर संस्थान की दृष्टि से भारती नामक सन्यासी को उन्होंने नामित किया ताकि शिक्षण संस्थानों के माध्यम से दिशाहीनता प्राप्त ना हो। नीति और आध्यात्म के विरुद्ध शिक्षा पद्धति क्रियान्वित ना हो सके। अयोध्या, मथुरादि जो हमारी पुरियाँ हैं उन पुरियों को सुव्यवस्थित रखने की भावना से पुरीनामा सन्यासी को शंकराचार्य जी ने प्रख्यापित किया। तीर्थ और आश्रम हमारे दिशाहीन ना हों, इस भावना से द्वारका पीठ से सम्बद्ध तीर्थ और आश्रम नामा सन्यासियों को उन्होंने नामित किया। सागर, समुद्र, पर्वत और गिरि नाम भी दिए गये। मत्स्यपुराण के अनुसार बृहद गिरि का नाम पर्वत, छोटे पर्वत का नाम

गिरी होता है। पर्वत, गिरि, सागरनामा सन्यासियों को शंकराचार्य जी ने प्रतिस्थापित किया। सागर के माध्यम से किसी भी अराजकतत्व, विधर्मियों के प्रवेश का मार्ग सर्वथा अवरुद्ध रहे, इस हेतु आदि शंकराचार्य ने यह भी कहा 'यथा दैवे तथा गुरो' श्वेताश्वतरोपनिषद् की इस पक्ति को उद्धृत करके उन्होंने बताया की 'मेरी गद्दी पर जो विधिवत प्रतिष्ठित आचार्य होंगें वो मेरे ही स्वरूप होंगें'। इसके अतिरिक्त शिवपुराण के अनुसार यह भी बताया कि भगवान चार युगों में चार गुरु का रूप धारण करते हैं। यह एक सतत प्रक्रिया है कि कृतयुग-सतयुग में ब्रह्माजी गुरु होते हैं। सार्वभौम-त्रेता युग में वशिष्ठ जी होते हैं। द्वापर युग में व्यास जी होते हैं और कलियुग में शंकराचार्य गुरुरूप होते हैं। दूसरी परंपरा के अनुसार भगवान शिव के अवतार दक्षिणामूर्ति कृतयुग या सतयुग में गुरु होते हैं, दत्तात्रेय महाभाग त्रेता में गुरु होते हैं, वेदव्यास जी द्वापर में गुरु होते हैं, कल्कियुग के अंतिमचरण तक भगवान शंकराचार्य उनकी और उनके द्वारा प्रतिस्थापित पीठों के आचार्य गुरु होते हैं।

सनातन धर्म संस्कृति के पुनर्स्थापन के महत कार्य को विधिपूर्वक सम्पन्न कर जगद्गुरु आदि शंकराचार्य ने 32 वर्ष की निर्धारित आयु में केदारनाथ क्षेत्र में निर्विकल्प समाधि योग के द्वारा अपने शरीर का त्याग किया और अपने ब्रह्मस्वरूप में लीन हो गये।

*****

मंत्रजाप का फल

एक बार रामकृष्ण परमहंस से एक शिष्य ने पूछा कि गुरुजी क्या सभी को मंत्र जाप का समान फल मिलता है? परमहंसजी ने जवाब दिया कि नहीं, ऐसा नहीं है। शिष्य ने पूछा कि ऐसा क्यों? इसके बाद परमहंसजी ने शिष्य को समझाने के लिए एक कथा सुनाई। कथा के अनुसार एक राजा का मंत्री हर रोज मंत्र जाप करता था। एक दिन राजा ने अपने मंत्री से पूछा कि क्या मंत्र जाप का फल सभी को समान रूप से मिलता है? मंत्री ने कहा कि नहीं, जाप से सभी को एक जैसा फल नहीं मिलता। राजा ने पूछा ऐसा क्यों? मंत्री राजा की बात टाल गया। अगले दिन फिर राजा ने वही पूछा कि मंत्र जाप का फल सभी को एक समान क्यों नहीं मिलता है? मंत्री फिर राजा की बात टाल गया। राजा बार-बार मंत्री से यही प्रश्न पूछ रहे थे। अगले दिन राजा और मंत्री महल से बाहर घूम रहे थे। तभी मंत्री ने एक अनजान बच्चे को बुलाया और कहा कि जाओ राजा के गाल पर थप्पड़ मार दो। बच्चे ने मंत्री की बात नहीं मानी, लेकिन राजा को मंत्री पर गुस्सा आ गया। राजा के साथ उस समय कोई सैनिक नहीं था। राजा ने उसी बच्चे से कहा कि जाओ इस मंत्री को थप्पड़ मार दो, इसने मेरा अपमान किया है।

बच्चे ने तुरंत ही राजा की आज्ञा मान ली और मंत्री को थप्पड़ मार दिया। मंत्री ने कहा कि महाराज मंत्र शक्ति भी इसी बालक की तरह है। मंत्र अपने अधिकारी व्यक्ति की आज्ञा का पालन करते हैं। मंत्रों में इतना विवेक होता है कि वे ये जानते हैं कि किसे कितना लाभ देना है। मंत्र ये जानते हैं कि किस पर कृपा करनी चाहिए और किस पर नहीं। परमहंस ने शिष्य से कहा कि मंत्र जाप का लाभ उन्हीं लोगों को मिलता है जो निस्वार्थ भाव से भक्ति करते हैं, एकाग्र होकर जाप करते हैं, बुराइयों से और अधर्म से दूर रहते हैं। छल-कपट करने वाले लोगों को मंत्र जाप का लाभ नहीं मिलता है।

सूरीनाम में भारतीयता की सांस्कृतिक जड़ें

डॉ. अकरम हुसैन
सह सम्पादक - 'वाग्मय
हिंदी पत्रिका' अलीगढ़

"भारतीय संस्कृति के राम... कबीर के राम ... तुलसी के राम ...गांधी के राम-यहाँ के जनजीवन में आपसी दरस-परस पर राम राम उद्बोधन के रूप में बसे हुए हैं। घर घर में पढ़ी और पूजी जाने वाली गीता और रामचरितमानस की कर्मनिष्ठा और मर्यादाबोध सूरीनाम के हिंदुस्तानियों का आज भी जीवनबोध है।

सूरीनाम एक छोटा देश है जो विश्व के पश्चिमी गोलार्द्ध दक्षिण अमेरिका के शीर्ष पर आभूषण की तरह स्थित है। सूरीनाम देश का अधिकांश भाग अटलांटिक महासागर की तटौना भूमि ब्राजील के महानद अमेजन के डेल्टा से बना हुआ है। भूगोल और जनसंख्या की दृष्टि से वास्तव में यह देश छोटा अवश्य है लेकिन जो भारतवंशी यहाँ निवास करते हैं वे वर्तमान में भी भारतीय संस्कृति में रचे बसे हैं और स्वयं को हिंदुस्तानी या भारतवंशी कहलाने में गर्व करते हैं और अपने संस्कार, संस्कृति, भाषा और बोली को साथ लेकर चलते हैं। डच भाषा के अतिरिक्त भोजपुरी, मैथिली और मागधी के मिश्रण से बनी सरनामी भाषा बोलते और समझते हैं जिसके परिणामस्वरूप उनकी भारतीयता की पहचान अनेक उतार- चढ़ावों के बावजूद जीवित है।

भारतीय संस्कृति का इतिहास बहुत प्राचीन और विराट है। जब भी कोई भारतीय बाहर जाता है तो अपनी संस्कृति, संस्कार और मानवता की छाप अवश्य छोड़ कर आता है। उन्नीसवीं शताब्दी में जब साम्राज्यवादी शक्तियाँ निजी हित में भारत की श्रम शक्ति ढोकर ले जा रही थी तब उसके साथ ही अदम्य जीवन संघर्ष से भरपूर एक संस्कृति एवं जीवंत भाषा भी यहाँ से स्वतः चली गई जिसका आभास डच कोलोनाइजरों को नहीं था। भारतीय श्रम शक्ति के वे सांस्कृतिक बीज आज स्थानीय परिवेश की सौंधी सुगंध में पोषित होकर विश्व के मानचित्र पर शक्तिशाली वट वृक्ष बन चुके हैं।

विदेशी धरती पर अपने संघर्ष की गाथा को प्रमाणित करने का कार्य आज भी गिरमिटिया मज़दूरों की भावी पीढियाँ कर रही हैं क्योंकि संस्कारों की गाथा विराट और अजर- अमर थी और उसका निर्वहन वे मानसिक तौर पर आधुनिक होकर भी कर रहे हैं। यह भारतीय संस्कृति का ही पालन-पोषण है कि वो विदेश में रहने के बावजूद भी स्वयं की भाषा और संस्कार से विरत न हो सके और भारतीय परम्परा, भाषा का निर्वहन कर रहे हैं। भारतीय व्यंजनों, तीज-त्योहारों को आज भी वहाँ की पीढ़ियाँ निभा रही हैं। यदि विश्लेषण किया जाए तो प्रतीत होता है कि अनेक पीढ़ियों से विदेश में रहने वाले गिरमिटिया मज़दूरों की वंशावली में भारतीयता का गुण एक आम भारतीय नागरिक से अधिक है जिसे वे अपने दैनिक कार्यों से सिद्ध भी कर देते हैं। आज भी भारतीय त्योहारों के समान होली, दीपावली, ईद

तथा अन्य त्योहारों को वे गर्व के साथ मनाते हैं और गौरवान्वित महसूस करते हैं।

प्रायः सभी मंदिरों में समस्त भगवानों की मूर्तियाँ स्थापित हैं फिर चाहे वह राधेश्याम का मंदिर हो या शिव-पार्वती, का मां जगदम्बा का मंदिर हो या श्रीराम-जानकी का। प्रमुख त्योहारों, पूजन-वंदन…एकादशी, पूर्णिमा, अमावस्या, गणेश चतुर्थी, हनुमान जयन्ती, शिवरात्रि वगैरह के अतिरिक्त प्रति सप्ताह सायं छह से रात्रि नौ या दस बजे तक मंदिर जगमगाता है। उस गांव का हर नागरिक अपने बच्चों…बूढों सहित विशेष प्रसाद के लिए उपस्थित रहता है। मंच पर व्यासपीठ से पण्डित-पुरोहित का प्रवचन होता है। यह उन सूरीनाम के श्रद्धालुओं की कथा है जिन्होंने अपने हाड़-मांस से वहाँ की धरती को उपजाऊ बनाकर फसलें पैदा कीं तथा अपने खून-पसीने की कमाई से अपने आराध्य देवताओं के मंदिरों, मठों एवं मस्जिदों का निर्माण किया। अपने शर्तबंदी श्रमकाल में आप्रवासी भारतीय अपनी मजदूरी की कमाई से एक समय भोजन करते थे और दूसरे वक़्त की रोटी का धन बचाकर उसे मंदिर बनवाने में व्यय करते थे। सूरीनाम देश में आज दो सौ के आसपास मंदिर हैं जो उनकी तपस्या और मजदूरी का प्रतिफल है। इस तरह इन लोगों ने अपने घर के साथ साथ मंदिर भी बनाए। इनके घर में चूल्हा जलने से पहले मंदिर में भक्ति का दीपक प्रज्ज्वलित होता था। अपने भोजन से पहले भगवान को भोग लगाते थे और यही संस्कार, संस्कृति वर्तमान के चालीस-प्रतिशत भारतवंशियों के तन-मन का चरित्र है जिसको वह सहर्ष कर रहे हैं और उनकी भावी पीढ़ियां भी अपने पुरखों की विरासत को संभाल रही हैं। सूरीनाम के भारतवंशियों के सामने पेट की आग के प्रश्न तो निश्चित ही मुंह बाए खड़े थे लेकिन उनकी भक्ति में किसी प्रकार का कोई व्यवधान नहीं था क्योंकि वे हमेशा अपने आराध्य की पूजा-अर्चना के बाद ही किसी काम में सम्मिलित होते थे।

सूरीनामी भारतीयों ने अपने संस्कार, संस्कृति, भाषा और परम्पराओं का हमेशा निर्वहन किया है। वे जब भी मिलते हैं तो अपने अंदाज में ही एक दूसरे का अभिवादन करते हैं, जैसे- राम-राम भइया! कइसो रहिलो? मोई से तो?

हां…हां, राम राम भइया चले हैं बकि…धीरे-धीरे…।

अरे, चलावे के परी।

हां भइया-देख न डाला (डॉलर) दमवा चढ़ता जा है।

इस संवाद से अचानक ऐसा प्रतीत होगा कि हम भारत के किसी पूर्वी उत्तरप्रदेश या बिहार के गांव में हैं और वहां के ही तौर-तरीकों में एक दूसरे का गर्मजोशी से अभिवादन कर रहे हैं क्योंकि यह हमारा शुद्ध भारतीय अंदाज़ है जिसमें बात करते हुए भी कटाक्ष के तौर पर वहां की सरकार पर भी तंज कस देते हैं और अपनी आर्थिक स्थिति का भी चित्रण कर देते हैं। इससे प्रतीत होता है कि सूरीनाम में बसे भारतवंशी भी निर्धनता में अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं लेकिन अपनी भारतीयता के पहरुआ और भारतीय संस्कृति, संस्कार के संरक्षक भी हैं।

वर्तमान स्थिति में भारतवंशियों के घर घर में गीता और रामचरितमानस का गुटका मिल जाएगा। भारतभूमि के सभी पर्व अपने सम्पूर्ण ऋतुचक्र के साथ यहां मनाए जाते हैं। शारदीय नवरात्र से लेकर

वासंतीय नवरात्र के बीच सभी पर्व यहाँ सम्पूर्ण धार्मिक अनुष्ठान और निष्ठा के साथ मनाए जाते हैं। होली पर्व पर विशेष रूप से घर घर घूमती हुई गायन मंडलियां फगुआ और चौताल गाते हुए घूमती हैं। वहाँ सभी रंगीन पाउडर की सुगन्धित सूखी होली खेलते हैं। दीपावली के दिन घर घर में सुरजन परोही के परिवार द्वारा बनाए हुए दीपक जलते-उजलते हैं। भारत की तरह गणेश-लक्ष्मी की मूर्तियां पूजन के लिए अभी नहीं बन पाती हैं। उसके लिए वे कार्ड और कैलेंडर की तस्वीरों का उपयोग करते हैं। विजयदशमी के दिन एक ओर दशहरा मनाया जाता है तो दूसरी ओर दुर्गा माँ की प्रतिमाओं का भव्य विसर्जन होता है। बड़ी नावों में भक्तजन गाते-बजाते हुए प्रतिमा को बीच जलधार में ले जाकर विसर्जित करते हैं। इन सारे पर्वों के अवसर पर आकाशवाणी और दूरदर्शन केंद्रों से गीत और भजन के कार्यक्रम लगातार प्रसारित होते हैं।

भारत की भांति सूरीनाम में भी सनातनी हिंदुओं के साथ आर्य समाजी हिन्दू भी रहते हैं और अपने तीज-त्योहारों को भी मिल-जुलकर मनाते हैं। एक दूसरे का सम्मान करते हैं। मान्यताओं, परंपराओं का निर्वहन करते हैं और अपने देश की सौंधी मिट्टी का गुणगान करते हैं। वे अपने पूर्वजों की मान्यताओं और उनके संस्कारों का प्रतिनिधित्व करते हुए भारतीय संस्कृति को बचाए हुए हैं। विदेशों में भारतीयता की जो भागीरथी प्रवाहित हुई है उसके भगीरथ मुख्य रूप से भारतवंशी पुरखे ही हैं जो गत दो सौ वर्षों के अंतराल में उपनिवेशकर्ताओं की चपेट में आकर दूसरे देशों में विवशतापूर्वक बसाए गए थे लेकिन अपनी संस्कृति, संस्कार, भाषा एवं परम्पराओं से समझौता नहीं किया बल्कि भूखे प्यासे रहकर भी अपनी मान्यताओं पर अडिग खड़े रहे। विदेशी धरती पर अपने देशी मन से वहाँ के जनजीवन को सुलभ बनाया। कॉलोनाइजरों को धन-बल इकट्ठा करके दिया लेकिन कभी भी अपने धर्म से समझौता नहीं किया। दूसरे देशों में मज़दूरी के बावजूद सामान्य जन में व्रत-त्योहार, रीति-रिवाज, धर्म-कार्य, शादी-ब्याह की रस्मों का सिलसिला वैसे ही चलता रहा जैसे अनेक संकटों के बावजूद गंगा की अविरल धारा प्रवाहित होती आ रही है। वर्तमान में भी विश्व के भारतवंशियों को जीने की संजीवनी शक्ति अपनी संस्कृति और सार्वभौम और सार्वकालिक धर्म से ही प्राप्त होती है। सूरीनाम के भारतवंशियों ने अनेक कठिनाइयों का सामना किया है और स्वयं को तथा भावी पीढ़ियों के मन मस्तिष्क को भारतीयता की सुगंध से तर रखा है। सम्पूर्ण भारत विश्व की संस्कृतियों का घर है और विश्व भर में भारतवंशियों और भारतीयों का घर है। उनकी अपनी भारतीय संस्कृति ही उनकी मातृसंस्कृति है और मातृभूमि है। विदेश की धरती पर भी वे अपनी भारतीय वसुधा की ऋतुओं का ही स्मरण करते हैं। जैसा कि विदित है कि हमारी भारतीय संस्कृति अत्यधिक प्राचीन है और उसकी जड़ें पूरी दुनियां में विधमान हैं क्योंकि भारतीय नागरिक संसार के जिस भी कोने में पहुंचे हैं वहाँ पर उन्होंने भारतीयता और संस्कृति का उद्घोष किया है जिसके कारण किसी भी विदेशी को हमारे हिंदुस्तानी होने का ज्ञान होगा तो वो हमसे विनम्र होकर 'नमस्ते' करेगा और देश के महान सपूतों के

संदर्भ में चर्चा करना चाहेगा जिसमें मुख्यतः गौतम बुद्ध, महात्मा गांधी, अंबेडकर, भगतसिंह, अबुल कलाम और विवेकानंद जैसे भारतीय संस्कृति के पहरुओं का ज़िक्र अवश्य होगा क्योंकि यही हमारी शक्ति भी है जिसके कारण विदेशों में लोग हमें आदर की दृष्टि से देखते हैं और सहिष्णु समझते हैं। भारतवंशियों को इन्हीं सब महापुरुषों की शिक्षाएं मिली हैं जिनके कारण वे भारतीयता का परिचय पूरे विश्व में देते हैं।

सूरीनाम के भारतवंशियों के संदर्भ में पुष्पित अवस्थी जी लिखती हैं "उसकी पसीने से नहाई देह में मैं स्नेह और आस्था का अमृत-जल महसूस कर रही थी। मैंने जब जब उसका हाथ बंटाना चाहा... उसने मुझे कुछ नहीं करने दिया और कहा- आप हमारी अतिथि भी हैं और गुरु भी। साथ ही उस देश से आई हैं जो हमारे पुरखों की मातृभूमि रही है। आपकी देह उस देश की माटी से बनी है जो पूजनीय है, मजदूरी के लिए नहीं है।"

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि भारतीय नागरिकों के प्रति भारतवंशियों का सम्मान अद्‌वितीय है। यह कोई एक दो वर्ष में अर्जित किया हुआ स्नेह नहीं है बल्कि हमारे देश के नागरिकों ने विदेशों में भारतीय संस्कृति, संस्कार और भाषा के माध्यम से कमाया है जिसका कोई मोल नहीं हो सकता है। उनको हमारे केवल भारतीय होने से ही प्रेम है जिसका वो हमेशा ज़िक्र भी करते हैं और समय आने पर सिद्‌ध भी करते हैं। वे पूरे विश्व के लिए प्रेरणास्रोत भी हैं क्योंकि पूंजीवादी दुनिया में प्रेम, भाईचारा, एकता जैसे शब्दों का अकाल हो चुका है लेकिन भारतवंशियों ने अपने पुरखों के देश से आये एक साधारण व्यक्ति को जो सम्मान दिया, प्रेम दिया, उसका बदला नहीं हो सकता है।

हिंदुस्तान की आस्थावान जनता अपनी मातृभूमि भारत की धरती पर अपनी जर्जर, टूटी-फूटी झोपड़ी छोड़कर अपनी मज़दूरी की ताकत के भरोसे दूसरे देशों की ओर निकल पड़ी। भारत छोड़ दिया लेकिन हिंदुस्तानी संस्कृति अपने मन-आँचल में संजो कर साथ ले गए थे। सत्ताखोरों ने इन हिंदुस्तानी मज़दूरों का मातृभूमि से रिश्ता लगभग तोड़ दिया था लेकिन ये मेहनतकश किसान, मज़दूर अपनी मातृभूमि के मातृत्व भाव को संस्कृति के रूप में अपने साथ ले आए और उनकी भावी पीढियां आज भी उनके बताए हुए रास्ते पर चलकर स्वयं और पुरखों की पावन भूमि को गौरवान्वित कर रही हैं क्योंकि इनके गर्भ में इस देश की संस्कृति, संस्कार, भाषा एवं परम्पराओं का सम्मोहन है जो एक बार इस पावन धरती पर आता है तो भूल नहीं सकता है।भारतीय परम्परा के अनुसार स्वयं को भारतीयता के रंग में रचे-बसे ये भारतवंशी हम भारत में जन्में हिन्दुस्तानियों से बेहतर हैं और हमारे मजबूत स्तम्भ 'वसुधैव-कुटुम्बकम' का गुणगान कर रहे हैं क्योंकि सूरीनाम देश की धरती ने विश्व के सभी देशों के इच्छुक नागरिकों को निवास के लिए घर और जीने के लिए व्यवसाय दिया है, चाहे वे कॉलोनाइजरों द्‌वारा भारत लाए गए हों या फिर जापानी, चायनीज़ तथा नीग्रो ही हों, वहाँ पर अधिक संख्या में गिरमिटिया भारतीयों की भावी पीढ़ियां ही हैं और अपने मूलमंत्र

का ध्यान रखकर सबको समानता, विश्वबन्धुत्व का पैग़ाम देती हैं।

भारतवंशियों की भावी पीढ़ियां भी स्वयं को भारतीय ही समझती हैं और उनका रहन-सहन भी लगभग भारतीय ही है। शादी-ब्याह, तीज-त्योहार पर हिंदुस्तानी पहनावा ही पहनते हैं और उसी प्रकार पूजा-पाठ करके समस्त विधि-विधान को करते हैं, यद्यपि वे शारीरिक तौर पर भारतीयों से अधिक तेजस्वी हैं लेकिन मानसिकता के आधार पर एकदम भारतीय ही हैं। उनको सरनामी के अतिरिक्त अंग्रेज़ी और फर्राटेदार डच भी आती है लेकिन जब कोई भारतीय और सूरीनामी भारतवंशी मिलता है तो वो अपनी ही भाषा में बात करते हैं जिससे उनकी भाषा और पहचान का प्रश्न उत्पन्न न हो सके।

अंत में कहा जा सकता है कि भारत और सूरीनाम दो देश अवश्य हैं लेकिन उनकी मूल भावना समान ही है क्योंकि यहाँ खाने-पीने, पहनने के साथ-साथ पूजा-पद्धति, संस्कृति, संस्कार, भाषा, परम्परा सब कुछ एक जैसा ही दिखाई देता है। इसलिए वहां के नागरिक स्वयं को हिंदुस्तानी कहते हुए भारत से अपना नाभिनालबद्ध सम्बन्ध महसूस करते हैं। भारतीयों से संबंधित किसी भी तरह के दुःखद समाचार से सात समुंद पार होते हुए भी वे संतप्त अनुभव करते हैं। यहां का हिन्दू समाज आज भी मुस्लिम परिवारों में जहाज़ी भाई होने का रिश्ता मानते हुए भाईचारे के साथ रहते हैं। धर्म और मंदिर-मस्ज़िद को लेकर आज तक कभी कोई विवाद नहीं हुआ। विदेश में सबसे पहले यह हिंदुस्तानी और भारतवंशी हैं। इसके बाद ही इनका कोई दूसरा अपना जाति-धर्म बनता है। हिन्दू-मुस्लिम परिवारों के लड़के-लड़कियों में सहजता से चाहत के अनुसार विवाह होते हैं और विवाहोपरांत वे अपने अपने धर्म और अपनी अपनी परंपरा, रीति-रिवाज और चाल-चलन के अनुसार बिना किसी भेदभाव के जीवनयापन करते हैं। किसी भी समाज से कोई दबाव या हस्तक्षेप नहीं होता है जो सच में उनको एक भारतीय बनाता है।

*****

रामायण की अद्भुत चौपाइयाँ

(1) **अनुचित उचित काजु किछु होऊ।**
समुझि करिअ भल कह सबु कोऊ।।

सहसा करि पाछे पछिताहीं।
कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं॥

भावार्थ- किसी भी कार्य का परिणाम उचित होगा या अनुचित, यह जानकर ही कोई कार्य करना चाहिए, उसी को सभी लोग भला कहते हैं। जो बिना विचारे काम करते हैं वे बाद में पछताते हैं, उनको वेद और विद्वान कोई भी बुद्धिमान नहीं कहता।

(2) **काम, क्रोध, मद, लोभ की, जौ लौं मन में खान।**
तौं लौ पंडित मूरखौ, तुलसी एक समान।।

भावार्थ - तुलसीदास जी का कहना है कि जब तक व्यक्ति के मन में काम, गुस्सा, अहंकार और लालच भरे हुए होते हैं तब तक एक ज्ञानी और मूर्ख व्यक्ति में कोई भेद नहीं रहता, दोनों एक जैसे ही हो जाते हैं।

आज़ादी का अमृत महोत्सव

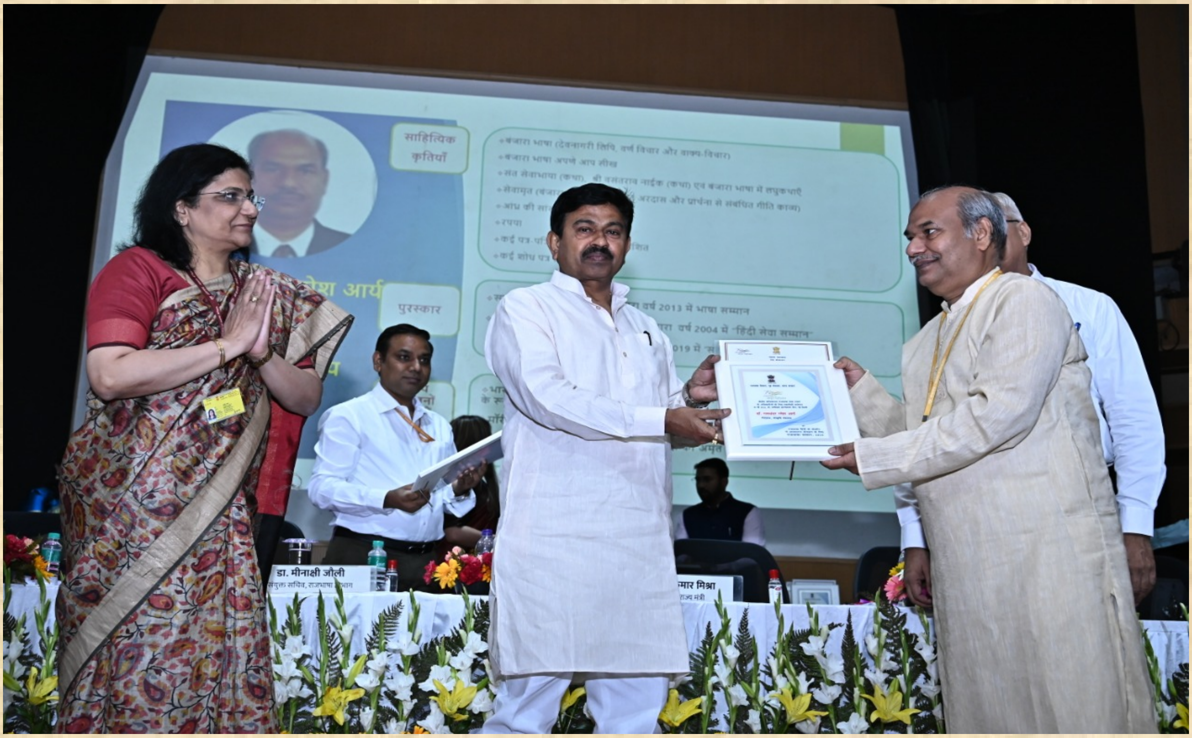

केन्द्रीय सचिवालय राजभाषा सेवा संवर्ग के सम्मेलन में माननीय गृह राज्य मंत्री, श्री अजय कुमार मिश्रा जी और राजभाषा विभाग की सचिव, श्रीमती अंशुली आर्या से "राजभाषा सम्मान" पुरस्कार प्राप्त करते हुए संस्कृति मंत्रालय के निदेशक, डॉ. रामचंदर रमेश आर्य

सत्रिय केन्द्र, गुवाहाटी में मंत्रालय द्वारा आयोजित राजभाषा कार्यशाला

दुर्गा मंदिर, ऐहोल, कर्नाटक

दुर्गा मंदिर कर्नाटक राज्य के ऐतिहासिक स्थल ऐहोल में स्थित है जिसे 7वीं और 8वीं शताब्दी के बीच चालुक्य वंश द्वारा बनाया गया था। इस मंदिर की सबसे मुख्य विशेषता इस मंदिर के चारों ओर बनी एक स्तंभपंक्ति है और इसके प्रवेश द्वार तथा भीतरी दीवारों पर विभिन्न देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बनी हुई हैं जिनके कारण मंदिर बहुत ही सुन्दर और आकर्षक दिखाई देता है। यह पर्यटकों और विद्वानों के लिए आकर्षण का मुख्य केंद्र बना हुआ है।

सत्यमेव जयते

भारत सरकार

संस्कृति मंत्रालय